आधुनिक कवि : २

आधुनिक कवि

२

श्रीसुमित्रानन्दन पंत

•

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

पुस्तक-माला	देव पुरस्कार ग्रन्थावली २
प्रकाशन वर्ष	शक १८८६ एवं १९६४ ई०
संस्करण	ग्यारहवीं आवृत्ति ५१० प्रतियाँ
मूल्य	० ३ ९५
प्रकाशक	गोपालचन्द्र सिंह सचिव प्रधान शासन निकाय हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग
मुद्रक	राम प्रताप त्रिपाठी शास्त्री सम्मेलन मुद्रणालय प्रयाग

प्रकाशकीय

भूतपूर्व ओरछा राज्य प्राचीन काल से हिन्दी-साहित्य और कवियों का सम्मान करता आ रहा है। इस क्रम को वहाँ के अंतिम नरेश सवाई महेन्द्र सर वीरसिंहजी देव ने अक्षुण्ण रखा और संवत् १९९० वि० से प्रति वर्ष किसी हिन्दी कवि के सम्मानार्थ २०००) का पुरस्कार देना प्रारम्भ किया था। संवत् १९९४ में प्रतियोगिता के लिए आये हुए ग्रन्थों में से कोई रचना पुरस्कार योग्य नहीं समझी गई और इस कारण पुरस्कार प्रबन्धकर्त्री समिति, श्री वीरेन्द्र-केशव-साहित्य-परिषद् ने इस निधि में से १०००) हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग को 'देव पुरस्कार ग्रंथावली' के नाम से एक पुस्तक-माला प्रकाशित करने के लिए प्रदान किया। इस दान के लिये सम्मेलन श्रीमान् ओरछा-नरेश तथा पुरस्कार प्रबन्धकर्त्री समिति का कृतज्ञ है।

तत्कालीन सम्मेलन की साहित्य-समिति ने यह निश्चय किया था कि इस ग्रंथावली में आधुनिक काल के प्रतिनिधि कवियों के काव्य-संग्रह प्रकाशित किये जायँ। इस माला की विशेषता यह है कि प्रत्येक कवि स्वयं अपनी कविताओं का चयन करे और स्वयं ही अपनी कविता का दृष्टिकोण पाठकों के सामने उपस्थित करे। प्रत्येक संग्रह के साथ कवि की हस्तलिपि का नमूना और उसकी प्रतिकृति का पेंसिल का स्केच रहता है।

प्रस्तुत संग्रह इस माला का द्वितीय पुष्प है। आधुनिक काल के कवियों में श्री सुमित्रानन्दन पंत का एक विशेष स्थान है। प्रकृति की गोद में पले रहने के कारण उनकी कविताओं में उसके प्रति क्षोभ की स्पष्ट छाप मिलती

है। हिन्दी-साहित्य में पंतजी की कविताओं का अपना अलग व्यक्तित्व है तथा अपनी कक्षा के भी वे एकमात्र प्रतिनिधि हैं। इस संग्रह के कवि की अपने काव्य के प्रति प्रकट की गई विचारधारा को पढ़ने के बाद पाठकों को कवि को समझने में विशेष सहायता मिलेगी।

इस संस्करण में कवि ने आवश्यक परिवर्तन और परिवर्द्धन करके अपनी परिपक्व कवि-प्रतिभा से प्रसूत अनेक अभिनव काव्य प्रसून संगृहीत किये हैं। परिवर्द्धित कविताएँ कवि की वर्तमान काव्यधारा का पूर्ण प्रतिनिधित्व करती हैं।

इस दृष्टि से इस संस्करण की उपयोगिता और महत्ता पिछले संस्करणों की अपेक्षा अधिक गरीयसी हो गई है। फलतः पन्तजी के काव्य-रसिकों के लिए 'आधुनिक कवि' का यह नवीन संस्करण अधिक उपयोगी सिद्ध होगा—ऐसा हमारा विश्वास है।

प्रकाशक



लेखक

पर्यालोचन

मैं अपने यत्किंचित् साहित्य-प्रयासों को आलोचक की दृष्टि से देखने के लिए उत्सुक नहीं था किंतु हिन्दी साहित्य सम्मेलन की इच्छा मुझे विवश करती है कि मैं प्रस्तुत संग्रह में अपने बारे में स्वयं लिखूँ। संभव है मैं अपने काव्य की आत्मा को स्पष्ट और सम्यक रूप से पाठकों के सामने न रख सकूँ पर, जो कुछ भी प्रकाश मैं उस पर डाल सकूँगा मुझे आशा है उससे मेरे दृष्टिकोण को समझने में मदद मिलेगी। पल्लव की भूमिका में काव्य के बहिरंग पर, अपने विचार प्रकट करने के बाद यह प्रथम अवसर है कि मैं अपने विकास की सीमाओं के भीतर से काव्य के अंतरंग का विवेचन कर रहा हूँ। इस संक्षिप्त पर्यालोचन में जो कुछ भी त्रुटियाँ रह जायँ उनके लिए सहृदय गुण पाठक क्षमा करें।

इस सौ-सवा सौ पृष्ठों के संग्रह में मेरी सभी संग्रहणीय कविताएँ अवश्य नहीं आ सकी हैं। पर जिन पथों का मेरी कल्पना ने अनुसरण किया है उन पर अंकित पद-चिह्नों का थोड़ा बहुत आभास इससे मिल सकता है और, संभव है अपने युग में प्रवाहित प्रमुख प्रवृत्तियों और विचारधाराओं की अस्पष्ट रूप रेखाएँ भी इसमें मिल जायँ। अस्तु—

कविता करने की प्रेरणा मुझे सबसे पहले प्रकृति निरीक्षण से मिली है जिसका श्रेय मेरी जन्मभूमि कूर्मांचल प्रदेश को है। कवि-जीवन से पहले भी मुझे याद है, मैं घंटों एकान्त में बैठा प्राकृतिक दृश्यों को एकटक देखा करता था और कोई अज्ञात आकर्षण मेरे भीतर, एक अव्यक्त सौन्दर्य का जाल बुन कर मेरी चेतना को तन्मय कर देता था। जब कभी मैं आँख मूँद कर लेटता था तो वह दृश्यपट, चुपचाप मेरी आँखों के सामने घूमा करता था। अब मैं सोचता हूँ कि क्षितिज में सुदूर तक फैली

एक के ऊपर एक उठी ये हरित नील धूमिल कूर्माचल की छायांकित पर्वत श्रेणियाँ जो अपने शिखरों पर रजत मुकुट हिमालय को धारण किए हैं, और अपनी ऊँचाई से आकाश की अवाक नीलिमा को और भी ऊपर उठाए हैं, किसी भी मनुष्य को अपने महान् नीरव संमोहन के आश्चर्य में डुबा कर, कुछ काल के लिए, भुला सकती हैं और यह शायद पर्वत प्रांत के वातावरण ही का प्रभाव है कि मेरे भीतर विश्व और जीवन के प्रति एक गंभीर आश्चर्य की भावना पर्वत ही की तरह, निश्चल रूप से अवस्थित है। प्रकृति के साहचर्य ने जहाँ एक ओर मुझे सौन्दर्य स्वप्न और कल्पना-जीवी बनाया वहाँ दूसरी ओर जन-भीरु भी बना दिया। यही कारण है कि जनसमूह से अब भी मैं दूर भागता हूँ और मेरे आलोचकों का यह कहना कुछ अंशों तक ठीक ही है कि मेरी कल्पना लोगों के सामने आने में लजाती है।

मेरा विचार है कि वीणा से ग्राम्या तक मेरी सभी रचनाओं मे प्राकृतिक सौन्दर्य का प्रेम किसी रूप में वर्तमान है।

'छोड़ द्रुमों की मृदु छाया
तोड़ प्रकृति से भी माया
बाले तेरे बाल जाल में कैसे उलझा दूँ लोचन ?—

आदि वीणा के चित्रण प्रकृति के प्रति मेरे अगाध मोह के साक्षी हैं। प्रकृति निरीक्षण से मुझे अपनी भावनाओं की अभिव्यंजना में अधिक सहायता मिली है, कहीं उससे विचारों की भी प्रेरणा मिली है। प्राकृतिक चित्रणों में प्राय मैंने अपनी भावनाओं का सौन्दर्य मिला कर उन्हें ऐन्द्रिय चित्रण बनाया है, कभी कभी भावनाओं को ही प्राकृतिक सौन्दर्य का लिबास पहना दिया है। यद्यपि 'उच्छ्वास' 'आँसू' 'बादल' 'विश्ववेणु' 'एकतारा' 'नौकाविहार' 'पलाश' 'दो मित्र' 'झंझा मे नीम' आदि अनेक रचनाओं में मेरे रूप-चित्रण के भी पर्याप्त उदाहरण मिलते हैं।

प्रकृति को मैंने अपने से अलग सजीव सत्ता रखने वाली नारी क रूप मे देखा है।

'उस फैली हरियाली में
कौन अकेली खेल रही मा
वह अपनी वय बाली में'—

पंक्तियाँ मेरी इस धारणा की पोषक हैं। कभी जब मैंने प्रकृति से तादात्म्य का अनुभव किया है तब मैंने अपने को भी नारी रूप में अंकित किया है। मेरी प्रारंभिक रचनाओं में इस प्रकार के हिप्नाटिज्म के अनेक उदाहरण मिलेंगे।

साधारणतः, प्रकृति के सुन्दर रूप ही ने मुझे अधिक लुभाया है पर उसका उग्र रूप भी मैंने 'परिवर्तन' में चित्रित किया है। मानव-स्वभाव का भी मैंने सुन्दर ही पक्ष ग्रहण किया है इसीसे मेरा मन वर्तमान समाज की कुरूपताओं से कट कर भावी समाज की कल्पना की ओर प्रभावित हुआ है। यह सत्य है कि प्रकृति का उग्र रूप मुझे कम रुचता है यदि मैं संघर्षप्रिय अथवा निराशावादी होता तो 'Nature red in tooth and claw वाला कठोर रूप जो जीव विज्ञान का सत्य है मुझे अपनी ओर अधिक खींचता। किन्तु 'बाहु बाढ़, धस्ता क्षमा की भीषण भूपर' इस 'कोमल मनुज कलेवर' को भविष्य में अधिक से अधिक 'मनुजोचित साधन' मिल सकेंगे और वह अपने लिए ऐसा 'मानवता का प्रसाद' निर्माण कर सकेगा जिसमें 'मनुष्य जीवन की क्षण धूलि' अधिक सुरक्षित रह सकेगी—यह आशा मुझे अज्ञात रूप से सदैव आकर्षित करती रही है—

'मनुज प्रेम से जहाँ रह सकें—मानव ईश्वर!
और कौन सा स्वर्ग चाहिए तुझे धरा पर?

वीणा और पल्लव विशेषतः, मेरे प्राकृतिक साहचर्य काल की रचनाएँ हैं। तब प्रकृति की महत्ता पर मुझे विश्वास था और उसके व्यापारों में मुझे पूर्णता का आभास मिलता था। वह मेरी सौन्दर्य-लिप्सा की पूर्ति करती थी जिसके सिवा उस समय मुझे कोई वस्तु प्रिय नहीं थी। स्वामी विवेकानन्द और रामतीर्थ के अध्ययन से प्रकृति प्रेम के साथ ही मेरे

प्राकृतिक दर्शन के ज्ञान और विश्वास में भी अभिवृद्धि हुई। 'परिवर्तन' में इस विचारधारा का काफी प्रभाव है। अब मैं सोचता हूँ कि प्राकृतिक दर्शन जो एक निष्क्रियता की हद तक सहिष्णुता प्रदान करता है, और एक प्रकार से प्रकृति को सर्वशक्तिमयी मान कर उसके प्रति आत्मसमर्पण सिखलाता है वह सामाजिक जीवन के लिए स्वास्थ्यकर नहीं है।

'एक सौ वर्ष नगर उपवन —एक सौ वर्ष विजन वन !
यही तो है असार संसार,—सृजन सिंचन संहार ! —

आदि भावनाएँ मनुष्य को अपने केन्द्र से च्युत करने के बाद किसी सक्रिय सामूहिक प्रयोग के लिए अग्रसर नहीं करती बल्कि उसे जीवन की क्षणभंगुरता का उपदेश भर देकर रह जाती हैं। इस प्रकार की अभावात्मकता (निगेटिविज्म) के मूल हमारी संस्कृति में मध्ययुग से भी गहरे धुसे हुए हैं, जिसके कारण जातीय दृष्टि से हम अपने स्वाभाविक आत्म-रक्षण के संस्कारों (सेल्फ प्रिज़र्वेशन इंस्टिंक्ट्स) को खो बैठे हैं, और अपने प्रति किए गए अत्याचारों को थोथी दार्शनिकता का रूप देकर, चुपचाप सहन करना सीख गए हैं। साथ ही हमारा विश्वास मनुष्य की संगठित शक्ति से हट कर आकाश कुसुमवत् दैवी शक्ति पर अटक गया है, जिसके फलस्वरूप हम देश पर विपत्ति के युगों में सीढ़ी दर सीढ़ी नीचे गिरते गए हैं।

पल्लव और गुंजन काल के बीच में मेरा किशोर भावना का सौन्दर्य स्वप्न टूट गया। पल्लव की 'परिवर्तन' कविता दूसरी दृष्टि से मेरे इस मानसिक परिवर्तन की भी द्योतक है। इसीलिए वह पल्लव में अपना विशेष व्यक्तित्व रखती है। दर्शनशास्त्र और उपनिषदों के अध्ययन ने मेरे रागतत्व में मंथन पैदा कर दिया और उसके प्रवाह की दिशा बदल दी। मेरी निजी इच्छाओं के संसार में कुछ समय तक नैराश्य और उदासीनता छा गई। मनुष्य के जीव जीवन के अनुभवों का इतिहास बड़ा ही करुण प्रमाणित हुआ। जन्म के मधुर रूप में मृत्यु दिखाई देने लगी वसंत के कुसुमित आवरण के भीतर पतझर का अस्थिपंजर।

'खोलता इधर जन्म लोचन
मूँदती उधर मृत्यु क्षण क्षण!
वहीं मधुऋतु की गुंजित डाल
झुकी थी जो यौवन के भार,
अकिंचनता में निज तत्काल
सिहर उठती —जीवन है भार!

मेरा क्षीण दृष्टि का मोह एक प्रकार से छूटने लगा और सहज जीवन व्यतीत करने की भावना में एक तरह का धक्का लगा। इस क्षणभंगुरता के बुद्बुदों के व्याकुल संसार में परिवर्तन ही एकमात्र चिरंतन सत्ता जान पड़ने लगी। मेरे हृदय की समस्त आकांक्षाएँ और सुख-स्वप्न अपने भीतर और बाहर किसी महान् चिरंतन वास्तविकता का अंग बन जाने के लिए, लहरों की तरह अज्ञात प्रयास की आकुलता में ऊबडूब करने लगे।

किन्तु दर्शन का अध्ययन, विश्लेषण की पैनी धार से जहाँ जीवन के नाम रूप गुण के छिलके उतार कर मन को शून्य की परिधि में भटकाता है वहाँ वह छिलके में फल के रस की तरह व्याप्त एक ऐसी सूक्ष्म संश्लेषणात्मक सत्य के आलोक से भी हृदय को स्पर्श करता है कि उसकी सर्वातिशायिता चित्त को अलौकिक आनन्द से मुग्ध और विस्मित कर देती है। भारतीय दर्शन ने मेरे मन को अस्थिर कर दिया।

'जग के उर्वर आँगन में बरसो ज्योतिर्मय जीवन
बरसो लघु लघु तृण तरु पर हे चिर अव्यय चिर नूतन!'—

इसी सविशेष की कल्पना के सहारे, जिसने 'ज्योत्स्ना' को और गुंजन की 'अप्सरा' को जन्म दिया है, मैं पल्लव से गुंजन में अपने को सुन्दरम् से शिवम् की भूमि पर पदार्पण करते हुए पाता हूँ। गुंजन में मेरी बहिर्मुखी प्रकृति सुख दुःख में समत्व स्थापित कर अंतर्मुखी बनने का प्रयत्न करती है, साथ ही गुंजन और ज्योत्स्ना में मेरी कल्पना अधिक सूक्ष्म एवं भावा-

त्मक हो गई है। गुंजन के भाषा संगीत में एक मुखरता मधुरता और स्समानता आ गई है जो पल्लव में नहीं मिलती। गुंजन के संगीत में एकता है पल्लव के स्वरों मे बहुमता। पल्लव की भाषा दृश्य जगत् के रूप रंग की कल्पना से मांसल और पल्लवित है गुंजन की भाषा भाव और कल्पना के सूक्ष्म सौन्दर्य से गुंफित। ज्योत्स्ना का वातावरण भी सूक्ष्म की कल्पना से ओतप्रोत है उसका सांस्कृतिक समन्वय सर्वातिशयता (ट्रेन्सेन्डेन्टलिज्म) के आलोक (दर्शन) को विकीर्ण करता है।

यह कहा जाता है कि मेरी कविताओ से सुन्दरम् और शिवम् से भी बढ़े सत्यम् सत्यम् का बोध नहीं होता है साथ ही उनमें वह अनुभूति की तीव्रता नहीं मिलती जो सत्य की अभिव्यक्ति के लिए आवश्यक है। यह सच है कि व्यक्तिगत सुख दुख के सत्य को अथवा अपने मानसिक संघर्ष को मैंने अपनी रचनाओं में भाषी नहीं दी है क्योंकि वह मेरे स्वभाव के विरुद्ध है। मैंने उससे ऊपर उठने की चेष्टा की है। गुंजन में 'तप रे मधुर मधुर मन' 'मैं सीख न पाया अब तक सुख से दुख को अपनाना' आदि अनेक रचनाएँ मेरी इस रुचि की द्योतक हैं। मुझे लगता है कि शिव में सत्य स्वयं निहित है। जिस प्रकार फूल में रूप रंग हैं, फल मे जीवनोपयोगी रस और फूल की परिणति फल में सत्य के नियमों ही द्वारा होती है उसी प्रकार सुन्दरम् की परिणति शिवम् में सत्य ही द्वारा हो सकती है। यदि कोई वस्तु उपयोगी (शिव) है तो उसके आधारभूत कारण उस उपयोगिता से संबंध रखने वाले सत्य मे अवश्य होने चाहिएँ, नहीं तो वह उपयोगी नहीं हो सकता। इसी तरह अनुभूति की तीव्रता भी सापेक्ष है और मेरी रचनाओं मे उसका संबंध मेरे स्वभाव से है। सत्य के दोनों रूप हैं—शराबी शराब पीता है यह सत्य है उसे शराब नहीं पीना चाहिए, यह भी सत्य है। एक उसका वास्तविक (फैक्चुअल) रूप है दूसरा परिणाम से संबंध रखने वाला। मेरी रचनाओं में सत्य के दूसरे पक्ष के प्रति मोह मिलता है वह मेरा संस्कार है आत्मविकास (सब्लिमेशन) की ओर जाना। अनुभूति की तीव्रता का बोध बहिर्मुखी (एक्स्ट्रोवर्ट) स्वभाव अधिक करा सकता है

मनस का बोध अंतर्मुखी स्वभाव (इंट्रोवर्ट)। क्योंकि दूसरा कारण रूप अंतर्द्वन्द्व को अभिव्यक्त न कर उसके फलस्वरूप कल्याणमयी अनुभूति को वाणी देता है। मेरे पहले काल की रचनाओं में तुलनात्मक दृष्टि से मानसिक संघर्ष और हार्दिकता अधिक मिलती है और बाद की रचनाओं में आत्मोत्कर्ष और सामाजिक अभ्युदय की इच्छा।

यदि मेरा हृदय अपने युग में बरते जाने वाले आदर्शों के प्रति विश्वास न खो बैठता तो मेरी बाद की रचनाओं में भी हार्दिकता पर्याप्त मात्रा में मिलती। जब वस्तुजगत् के जीवन से हृदय को भोजन अथवा भावना को उद्दीप्ति नहीं मिलती तब हृदय का सूनापन बुद्धि के पास सहायता माँगने के लिए पुकार भेजता है।

आते कैसे सूने पल जीवन में ये सूने पल

'जो देती उर की वीणा झंकार मधुर जीवन की'—

आदि उद्गार गुंजन में आए हैं। ऐसी अवस्था में मेरा हृदय वर्तमान जीवन के प्रति घृणा या विद्वेष की भावना प्रकट कर सकता और मैं संदेहवादी या निराशावादी बन सकता था। पर मेरे स्वभाव ने मुझे रोका और मैंने इन बाह्य निश्चेष्टता और सूनेपन के कारणों को बुद्धि में सुलझाने का प्रयत्न किया। यही कारण है कि मेरी आगे की रचनाएँ भावनात्मक न रह कर बौद्धिक बनती गईं या मेरी भावना का युग प्रज्ञावान् हो गया? ज्योत्स्ना में मेरी भावना और बुद्धि के आवेश का मिश्रित चित्रण मिलता है।

जब तक रूप का चित्र मेरे हृदय को आकर्षित करता रहा जो कि एक किशोर प्रवृत्ति है मेरी रचनाओं में ऐन्द्रिय चित्रणों की कमी नहीं रही। शारीरिक अनुराग की भावना क्रमशः सौन्दर्यप्रधान से भावप्रधान और भाव प्रधान से ज्ञानप्रधान होती जाती है। बौद्धिकता हार्दिकता ही का दूसरा रूप है वह हृदय की शून्यता से नहीं आती। परिवर्तन में भी मैंने यही बात कही है—

'यही प्रज्ञा का सत्य स्वरूप हृदय में बनता प्रणय अपार,
लोचनों में लावण्य अनूप लोकसेवा में शिव अविकार।

गुंजन से पहले—जब कि मैं परिस्थितियों के वश अपनी प्रवृत्ति को अन्त मुखी बनाने के लिए बाध्य नहीं हुआ था—मेरे जीवन का समस्त मानसिक संघर्ष और अनुभूति की तीव्रता ग्रंथि और 'परिवर्तन' में प्रकट हुई। जैसा कि मैं पहले लिख चुका हूँ तब मैं प्राकृतिक दर्शन (नैच्युरेलिस्टिक फिलासफी) से अधिक प्रभावित था और मानवजाति के ऐतिहासिक संघर्ष के सत्य से अपरिचित था। दर्शन मनुष्य के वैयक्तिक संघर्ष का इतिहास है विज्ञान सामूहिक संघर्ष का।

'मानव जीवन प्रकृति संचालन में विरोध है निश्चित
विजित प्रकृति को कर जन ने की विश्व सभ्यता स्थापित'—

जीवन की इस ऐतिहासिक व्याख्या के अनुसार हम संसार में लोकोत्तर मानवता का निर्माण करने के अधिकारी हैं।

अचिर विश्व मे अखिल—दिशावधि कर्म वचन मन
तुम्हीं चिरंतन अहे विवर्तन हीन विवर्तन! —

जीवन की इस प्राकृतिक व्याख्या के अनुसार हमें प्रकृति के नियमों की परिपूर्णता एवं सर्वशक्तिमत्ता के सम्मुख मस्तक नवाने ही में शांति मिल सकती है।

गुंजन और ज्योत्स्ना में मेरी सौन्दर्यकल्पना प्रायः आत्मकल्याण और विश्वमंगल की भावना को अभिव्यक्त करने के लिए उपादान की तरह प्रयुक्त हुई है।

'प्राप्त नहीं मानव जग को यह मर्मोज्ज्वल उल्लास'

या

'कहाँ मनुज को अवसर देखे मधुर प्रकृति मुख'

अथवा

'प्रकृति धाम यह तृण तृण कण कण जहाँ प्रफुल्लित जीवित
यहाँ अकेला मानव ही रे चिर विपण्ण जीवन-मृत ! —

बाद वाद की रचनाओं में मेरे हृदय का आनन्दमय मानवजगत की ओर अधिक प्रकट होता है। ज्योत्स्ना तक मेरे सौन्दर्य बोध की भावना मेरे ऐन्द्रिय हृदय को प्रभावित करती रही है मैं तब तक भावना ही से जगत का परिचय प्राप्त करता रहा उसके बाद मैं बुद्धि से भी संसार को समझने की चेष्टा करने लगा हूँ। अपनी भावना की सहज दृष्टि को खो बैठने के कारण या उसके दब जाने के कारण मैंने 'युगांत' में लिखा है —

'यह एक असीम अखंड विश्व व्यापकता
खो गई तुम्हारी चिर जीवन सार्थकता !

भावना की समग्रता को खो बैठने के कारण मैं खंड-खंड रूप में संसार को तथा जीवन को समझने का प्रयत्न करने लगा। यह कहा जा सकता है कि यहाँ से मेरी काव्य साधना का दूसरा युग आरंभ होता है। जीवन के प्रति एक अंतर्विश्वास मेरी बुद्धि को अज्ञात रूप से परिचालित करने लगा और विरागभ्रम के क्षणों में प्रकाश स्तम्भ का काम देने लगा। जैसा कि मैंने 'युगांत' में भी लिखा है,—

जीवन लोकोत्तर
बढ़ती लहर, बुद्धि से दुस्तर
पार करो विश्वास चरण धर।

अब मैं मानता हूँ कि भावना और बुद्धि से संश्लेषण और विश्लेषण से हम एक ही परिणाम पर पहुँचते हैं।

पल्लव से गुंजन तक मेरी भाषा में एक प्रकार के अलंकार रहे हैं और वे अलंकार भाषा संगीत को प्रेरणा देने वाले तथा भाव सौन्दर्य को पुष्ट करने वाले रहे हैं। बाद की रचनाओं में भाषा के अधिक गर्भित (ऐम्फ्रैक्ट) हो जाने के कारण मेरी *अलंकारिता अभिव्यक्तिजनित हो गई है।*

'नयन नीलिमा के लघु नभ में किस नव सुषमा का संसार
विरल इन्द्रधनुषी बादल सा बदल रहा है अपार?

की अलंकृत भाषा जिस प्रकार 'स्वप्न' का रूप चित्र सामने रखती है उसी प्रकार गीत-गद्य 'युगवाणी' की 'युग उपकरण' 'नव संस्कृति' आदि रचनाएँ मनोरम विचार चित्र उपस्थित करती हैं। 'पुष्पप्रसू' 'घननाद' 'रूपसत्य' 'जीवनस्पर्श' आदि रचनाओं में भी विषयानुकूल अलंकारिता का अभाव नहीं है। यदि यह मेरा सृजन आवेश मात्र नहीं है तो युगवाणी और ग्राम्या में मेरी कल्पना ऊर्णनाभ की तरह 'सूक्ष्म अमर अंतर्जीवन का' मधुर वितान तान कर, देश और काल के छोरों को मिलाने में संलग्न रही है। इस ह्रास और विघटन के युग के स्वल्पप्राण मेधावकी सृजन शील कल्पना अधिकतर जीवन के नवीन मार्गों की खोज ही में व्यस्त हो जाती है, उसका कलाकार स्वभावतः पीछे पड़ जाता है अतएव उससे अधिक कला नैपुण्य की आशा भी नहीं रखनी चाहिए।

युगवाणी का 'रूप सृजन' समाज के भावी रूप का सृजन है। अभी जो वास्तव में अरूप है उसके कल्पनात्मक रूप चित्र को स्वभावतः अलंकृत होना चाहिए। युगवाणी में कहा भी है —

'बन गए कलात्मक भाव जगत के रूप नाम'
'सुंदर शिव सत्य कला के कल्पित माप-मान
बन गए स्थूल जग जीवन से हो एक प्राण।

'जगत के रूप नाम' से मेरा अभिप्राय नवीन सामाजिक संबंधों से निर्मित भविष्य के मानव-संसार से है। जब हम कला को जीवन की अनुवर्तिनी मानते हैं तब कला का पक्ष गौण हो जाता है। विकास के युग में जीवन कला का अनुगामी होता है। युगवाणी में यह बात कई तरह व्यक्त की गई है कि भावी जीवन और भावी मानवता की सौन्दर्य कल्पना स्वयं ही अपना आभूषण है। 'रूप रूप बन जायें भाव स्वर, चित्र गीत झंकार मनोहर' द्वारा भविष्य के अरूप सौन्दर्य का रूप के पाश में बाँधने के लिए, आवाहन किया गया है।

प्राचीन प्रचलित विचार और जीर्ण आदर्श समय के प्रवाह में अपनी उपयोगिता के साथ अपना सौन्दर्य भी खो बैठते हैं उन्हें सजाने की जरूरत पड़ती है। नवीन आदर्श और विचार अपनी ही उपयोगिता के कारण संगीतमय एवं अलङ्कृत होते हैं। क्योंकि उनका रूप चित्र अभी सद्य होता है और उनके रस का स्वाद नवीन। 'मधुरता मृदुता सी तुम प्राण न जिसका स्वाद स्पर्श कुछ ज्ञात' उनके लिए भी चरितार्थ होता है। इसी से उनकी अभिव्यंजना से अधिक उनका भावतत्व काव्यगौरव रखता है।

'तुम वहन कर सको जन मन में मेरे विचार
वाणी मेरी चाहिए तुम्हें क्या अलंकार'

में भी मेरा यही अभिप्राय है कि संक्रांतियुग की वाणी के विचार ही उसके अलंकार हैं। जिन विचारों की उपयोगिता नष्ट हो गई है जिनकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि खिसक गई है वे पथराए हुए मृत विचार भाषा को बोझिल बनाते हैं। नवीन विचार और भावनाएँ, जो हृदय की रस-पिपासा को मिटाते हैं उड़ने वाले प्राणियों की तरह स्वयं हृदय में घर कर लेते हैं। आने वाले काव्य की भाषा अपने नवीन आदर्शों के प्राणतत्व से रसमयी होगी नवीन विचारों के ऐश्वर्य से सालंकार और जीवन के प्रति नवीन अनुराग की दृष्टि से सौन्दर्यमयी होगी। इस प्रकार काव्य के अलंकार विकसित और सांकेतिक हो जाएँगे।

छायावाद इसलिए अधिक नहीं रहा कि उसके पास भविष्य के लिए उपयोगी नवीन आदर्शों का प्रकाश नवीन भावना का सौन्दर्य बोध और नवीन विचारों का रस नहीं था। वह काव्य से रहकर केवल अलङ्कृत संगीत बन गया था। द्विवेदी युग के काव्य की तुलना में छायावाद इसलिए आधुनिक था कि उसके सौन्दर्यबोध और कल्पना में पाश्चात्य साहित्य का पर्याप्त प्रभाव पड़ चुका था और उसका भाव शरीर द्विवेदी युग के काव्य की परंपरागत सामाजिकता से पृथक हो गया था। किन्तु वह नए युग की सामाजिकता और विचारधारा का समावेश नहीं कर सका

था। उसमें व्यावसायिक क्रांति और विकासवाद के बाद का भावना वैभव तो था पर महायुद्ध के बाद की 'अभवस्त्र' की धारणा (वास्तविकता) नहीं आई थी। उसके 'हास-अश्रु आशाकांक्षा' 'खाद्य मधु पानी' नहीं बने थे। इसलिए एक ओर वह निगूढ़, रहस्यात्मक भावप्रधान (सबजेक्टिव) और वैयक्तिक हो गया दूसरी ओर केवल टकनीक और आभरण मात्र रह गया। दूसरे शब्दों मे नवीन सामाजिक जीवन की वास्तविकता को ग्रहण कर सकने से पहले हिन्दी कविता छायावाद के रूप मे ह्रासयुग के वैयक्तिक अनुभवों ऊर्ध्वमुखी विकास की प्रवृत्तियों, ऐहिक जीवन की आकांक्षाओं संबंधी स्वप्नों निराशाओं और संवेदनाओं को अभिव्यक्त करने लगी और व्यक्तिगत जीवन संघर्ष की कठिनाइयों से क्षुब्ध होकर, पलायन के रूप में प्राकृतिक दर्शन के सिद्धान्तो के आधार पर, भीतर बाहर में सुख दुख मे आशा निराशा और संयोग वियोग के द्वन्द्वों मे सामंजस्य स्थापित करने लगी। सापेक्ष की पराजय उसमें निरपेक्ष की जय के रूप में गौरवान्वित होने लगी।

महायुद्ध के बाद की अंग्रेजी कविता भी अतिवैयक्तिकता बौद्धिकता कुण्ठा संघर्ष अवसाद निराशा आदि से भरी हुई है। वह भी उन्नीसवीं सदी के कवियों के भाव और सौन्दर्य के वातावरण से कट कर अलग हो गई है। किन्तु उसकी करुणा और क्षोभ की प्रतिक्रियाएँ व्यक्तिगत असंतोष के संबंध में न रह कर वर्ग एवं सामाजिक जीवन की परिस्थितियों से संबंध रखती हैं। वह वैयक्तिक स्वर्ग की कल्पना से प्रेरित न होकर सामाजिक पुनर्निर्माण की भावना से अनुप्राणित है। उन्नीसवीं सदी का उत्तरार्ध इंगलैंड में मध्यवर्गीय संस्कृति का चरमोन्नत युग रहा है, महायुद्ध के बाद उसमें विघटन के चिह्न प्रकट होने लगे। छायावाद और युद्धोत्तरकालीन अंग्रेजी कविता दोनों भिन्न-भिन्न रूप से इस संक्रान्तियुग के स्नायविक विक्षोभ की प्रतिध्वनियाँ हैं।

पल्लव काल में मैं उन्नीसवीं सदी के अंग्रेजी कवियों—मुख्यतः शेली वर्ड्सवर्थ कीट्स और टेनिसन—से विशेष रूप से प्रभावित रहा हूँ

क्योंकि इन कवियों ने मुझे मशीनयुग का सौन्दर्यबोध और मध्यवर्गीय संस्कृति का जीवन स्वप्न दिया है। रवि बाबू ने भी भारत की आत्मा को पश्चिम की मशीन युग की सौन्दर्य कल्पना ही में परिधानित किया है। पूर्व और पश्चिम का मेल उनके युग का स्लोगन भी रहा है। इस प्रकार मैं कवीन्द्र की प्रतिभा के गहरे प्रभाव को भी कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार करता हूँ। और यदि लिखना एक unconscious-conscious process है, तो मेरे उपचेतन ने इन कवियों की निधियों का यथावत उपयोग भी किया है और उसे अपने विकास का अंग बनाने की चेष्टा की है।

ऊपर मैं एक अखंड भावना की व्यापकता को खो बैठने की बात लिख चुका हूँ। अब मैं जानता हूँ कि वह केवल सामंत युग की सांस्कृतिक भावना थी जिसे मैंने खोया था और उसके विनाश के कारण मेरे भीतर नहीं बल्कि बाहर के जगत में थे। इस बात को ग्राम्या में मैं निश्चयपूर्वक लिख सका हूँ—

> 'गत संस्कृतियों था आदर्शों का था नियत पराभव
> वृद्ध विश्व सामन्तकाल का था केवल जड़ खँडहर!

'युगांत' के 'बापू' ('बापू के प्रति') सामंत युग के सूक्ष्म के प्रतीक हैं 'ग्राम्या' के 'महात्मा' ('महात्मा जी के प्रति' में) ऐतिहासिक स्थूल के सम्मुख 'विजित नत वरेण्य' हो गए हैं, जो वर्तमान युग की पराजय है।

> 'हे भारत के हृदय तुम्हारे साथ आज निःसंशय
> चूर्ण हो गया विगत सांस्कृतिक हृदय जगत का जर्जर!

भावी सांस्कृतिक क्रांति की ओर संकेत करता है।

हम सुधार और जागरण काल में पैदा हुए, किन्तु युग प्रगति से बाध्य होकर, हमें संक्रान्ति युग की विचारधारा का वाहक बनना पड़ा है। अपने जीवन में हम अपने ही देश में कई प्रकार के सुधार और जागरण के प्रयत्नों को देख चुके हैं। उदाहरणार्थ स्वामी दयानन्द जी सुधारवादी थे जिन्होंने

मध्ययुग की संकीर्ण रूढ़ि रीतियों के बंधनों से इन जातियों और संप्रदायों में विभक्त हिन्दू धर्म का उद्धार करने की चेष्टा की। श्री परमहंस देव और स्वामी विवेकानन्द का युग भारतीय दर्शन के जागरण का युग रहा है। उन्होंने मनुष्य जाति के कल्याण के लिए धार्मिक समन्वय करने का प्रयत्न किया। डा० रवीन्द्रनाथ का युग विश्वव्यापी सांस्कृतिक समन्वय पर जोर देता रहा है।

'युग युग की संस्कृतियों का चुन तुमने सार सनातन
नव संस्कृति का शिलान्यास करना चाहा भव धुमकर'

कवीन्द्र की प्रतिभा के लिए भी लागू होता है। वह एक स्थान पर अपने बारे में लिखते भी है,—"मैं समझ गया कि मुझे इस विभिन्नता में व्याप्त एकता के सत्य का सन्देश देना है। डा० टैगोर के जीवन-मान भारतीय दर्शन के साथ ही मानव शास्त्र (एन्थ्रोपोलाजी) विश्ववाद और अंतर्राष्ट्रीयता के सिद्धान्तों से प्रभावित हुए हैं। उनके युग का प्रयत्न भिन्न भिन्न देशों और जातियों की संस्कृतियों के मौलिक तादात्म्य से मानव जाति के लिए विश्व संस्कृति का पुनर्निर्माण करने की ओर रहा है। वैज्ञानिक आविष्कारों से मनुष्य की देश काल जनित धारणाओं में प्रकारांतर उपस्थित हो जाने के कारण एवं आवागमन की सुविधाओं से भिन्न-भिन्न देशों और जातियों के मनुष्यों में परस्पर का संपर्क बढ़ जाने के कारण उस युग के विचारकों का मानव-जाति के आंतरिक (सांस्कृतिक) एकीकरण करने का प्रयत्न स्वाभाविक ही था। महात्मा जी भी इसी प्रकार, विकसित व्यक्तिवाद के मानों का पुनर्स्थापन कर, भिन्न-भिन्न सांस्कृतिक सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों के बीच संसार में सामंजस्य स्थापित करना चाहते हैं। किन्तु इस प्रकार के एकदेशीय एकजातीय और अंतर्राष्ट्रीय प्रयत्न भी इस युग में तभी सफल हो सकते है जब उनको परिचालित करने वाले सिद्धांतों के मूल विकासशील ऐतिहासिक सत्य में हों।

विश्व सभ्यता का होता था नवसित नव रूपांतर,
रामराज्य का स्वप्न तुम्हारा हुआ न यों ही निष्फल !

आनेवाला युग जीवन के प्रति मनुष्य के दृष्टिकोण में आमूल परिवर्तन लाना चाहता है। वह सामंत युग के सगुण (सांस्कृतिक मन) से मानव चेतना को मुक्त कर, मनुष्य के मौलिक संस्कारों का यंत्रयुग की विकसित परिस्थितियों और सुविधाओं के अनुरूप नवीन रूप से मूल्यांकन करना चाहता है। वह मानव संस्कृति को एक सामूहिक विकास प्रवाह मानता है। 'प्रस्तर युग की जीर्ण सभ्यता मरणासन्न समापन' से इसी प्रकार के युग परिवर्तन की सूचना मिलती है। दूसरे शब्दों में आने वाला युग मनुष्य समाज का वैज्ञानिक ढंग से पुनर्निर्माण करना चाहता है। ज्ञान को सबंध विज्ञान ने वास्तविकता प्रदान की है। आधुनिक वैज्ञानिक अनुसंधान भी मानव जाति की नवीन जीवन कल्पना को पृथ्वी पर अवतरित करने के प्रयत्न में संलग्न हैं। जिस संक्रांतिकाल से मानव सभ्यता गुजर रही है उसके परिणाम के हेतु आशावादी बने रहने के लिए विज्ञान ही हमारे पास अमोघ शक्ति और साधन है। इस विश्वव्यापी युद्ध के रूप में जैसे विज्ञान भिन्न-भिन्न जातियों वर्गों और स्वार्थों में विभक्त 'आदिम मानव' ('आदिम मानव करता अब भी जल में निवास') का संहार कर रहा है। वह भविष्य में नवीन मानव के लिए लोकोपयोगी समाज का भी निर्माण कर सकेगा। ग्राम्या में १९४० सन् को संबोधन करते हुए मैंने लिखा है—

'आओ हे दुर्धर्ष वर्ष लाओ विनाश के साथ नव सृजन
विंश शताब्दी का महान् विज्ञान ज्ञान ले उत्तर यौवन !

सभ्यता के इतिहास में और भी कई युग बदले हैं और उन्हीं के अनुरूप मनुष्य की आध्यात्मिक धारणा अपने अंतर और बहिर्जगत के संबंध में परिवर्तित हुई है।

'पशु युग में थे गण देवों के पूजित पशुपति
थी हलधर से पूजित कृषि युग की उन्नति।

श्री राम पद की रज में कर अनहित परिमार्जित
जीवित कर गए अहल्या को वे सीता-पति।

श्री राम इस दृष्टि से अपने देश में कृषि क्रांति के प्रवर्तक कहे जा सकते हैं जिन्होंने कृषि जीवन की मान मर्यादाएँ निर्धारित कीं। स्थिर एवं सुव्यवस्थित कृषि जीवन की व्यवस्था पशु-जीवियों की कष्टसाध्य अस्थिर जीवनचर्या से श्रेष्ठ और लोकोपयोगी प्रमाणित हुई। एक स्त्री-पुरुष का सदाचार कृषि संस्कृति ही की देन है। कृष्ण का युग कृषि जीवन के विभव का युग रहा है। भारतवर्ष जैसे विशाल उर्वर और सम्पन्न देश की सामन्तकालीन सभ्यता और संस्कृति अपने उत्कर्ष के युग में संसार को जो कुछ दे सकती थी—उसका समस्त वैभव बहुमूल्य उपादान उसकी अपार गौरव गरिमा ऋद्धि सिद्धि सृष्टि चकित कर देने वाले रूप रंग—उस युग की विलास भावना बुद्धि कल्पना प्रेम ज्ञान भक्ति रहस्य ईश्वरत्व—उसके समस्त भौतिक मानसिक आध्यात्मिक उपकरणों को जोड़ कर, जैसे उस युग की चरमोन्नति का प्रतीक स्वरूप श्रीकृष्ण की प्रतिमा निर्माण की गई है। इससे परिपूर्ण रूप अथवा प्रतीक सामन्त युग की संस्कृति का और हो भी नहीं सकता था। और कृषि संपन्न भारत के सिवा कोई दूसरा देश शायद उसे दे भी नहीं सकता था।

मर्यादा पुरुषोत्तम के स्वरूप में कृषि-जीवन के आचार-विचार, रीतिनीति संबंधी सात्विक चाँदी के तारों से बुने हुए भारतीय संस्कृति के बहुमूल्य पट में विभवमूर्ति कृष्ण ने सोने का सुन्दर काम कर उसे रत्न खचित यशस्वी बेलबूटों से अलंकृत कर दिया। कृष्ण युग की नारी भी हमारी विभव युग की नारी है। वह 'मनसा वाचा कर्मणा जो मेरे मन राम' वाली एकनिष्ठ पत्नी नहीं—लाख प्रयत्न करने पर भी उसका मन बंसीध्वनि पर मुग्ध हो जाता है वह विह्वल है, उच्छ्वसित है। सामंत युग की नैतिकता के तंग दायरे के भीतर, श्रीकृष्ण ने विभव युग के नर नारियों के सदाचार में भी क्रांति उपस्थित की है। श्रीकृष्ण की गोपियाँ

मध्ययुग के युग में फिर से लोप संस्कृति का विकास पहनती हुई दिखाई देती है।

भारतीय संस्कृति का जो स्वरूप हमें मध्ययुग में देखने को मिलता है वह भी तुलसी रामायण में सुरक्षित है। तुलसी ने 'कृषि-मय युग अनुरूप किया चित्रित। देश की पराधीनता और ह्रास के युग में संस्कृति के संरक्षण के लिए प्रयत्न शुरू हुए। अन्य संस्कृतियों से ग्रहण कर सकने की उसकी ग्रहणशक्ति मन्द पड़ गई, और भारतीय संस्कृति का गतिशील जीवन इन जातियों, संप्रदायों, धर्मों मतों रूढ़ि रीति नीतियों और परम्परागत विश्वासों के रूप में जम कर कठोर एवं निर्जीव हो गया। आर्थिक और राजनीतिक पराभव के कारण जनसाधारण में देह की अनित्यता जीवन का मिथ्यापन संसार की असारता मायावाद प्रारब्धवाद, वैराग्य भावना आदि ह्रासयुग के अभावात्मक विचारों और भावों का प्रचार बढ़ने लगा। जिस प्रकार कृषि युग ने पशुजीवी युग के मनुष्य की अंतर्बाह्य चेतना में प्रकारांतर उपस्थित कर दिया उसी प्रकार यंत्र का आगमन सामंत युग की परिस्थितियों में आमूल परिवर्तन लाने की सूचना देता है। सामंत युग में भी समय समय पर, छोटी बड़ी विशिष्ट युग की यंत्र सम्पत्तियों का समन्वय हुआ है तथा सामाजिक राजनीतिक सांस्कृतिक और धार्मिक क्रांतियाँ हुई हैं किन्तु उन सब के नैतिक मानों और आदर्शों को सामन्तयुग की परिस्थितियों ही ने प्रभावित किया है। भविष्य में इस प्रकार के सभी प्रयत्नों से संबंध रखने वाले मौलिक सिद्धांतों और मानों को यंत्र युग की आर्थिक एवं सामाजिक परिस्थितियाँ निर्धारित करेंगी।

यन्त्र युग के दर्शन को हम ऐतिहासिक भौतिकवाद कहते हैं जो पिछली सदी के संकीर्ण भौतिकवाद से पृथक है। नवीन भौतिकवाद दर्शन और विज्ञान का मानव सभ्यता के अंतर्बाह्य विकास का ऐतिहासिक समन्वय है।

> 'दर्शन युग का अंत अंत विज्ञानों का संघर्षण
> अब दर्शन-विज्ञान सत्य करता नव्य निरूपण।

यह मनुष्य के सामाजिक जीवन विकास के प्रति ऐतिहासिक दृष्टिकोण है। सामाजिक प्रगति के दर्शन के साथ ही यह उस सामूहिक वास्तविकता से परिचित करने योग्य नवीन तंत्र (स्टेट) का भी विधायक है।

'विकसित हो बदले जब जब जीवनोपाय के साधन
युग बदले शासन बदले कर गत सभ्यता समापन।
सामाजिक सम्बन्ध बने नव अर्थ-भित्ति पर नूतन
नव विचार, नव रीति नीति नव नियम भाव नव दर्शन।'

इतिहास विज्ञान के अनुसार जैसे जैसे जीवनोपाय के साधन स्वरूप कृषि यन्त्रों और यंत्रों का विकास हुआ है मनुष्य जाति के रहन-सहन और सामाजिक विचार में भी युगांतर हुआ है। नवीन आर्थिक व्यवस्था के आधार पर नवीन राजनीतिक प्रणालियाँ और सामाजिक सम्बन्ध स्थापित हुए हैं और उन्हीं के प्रतिरूप रीति नीतियों विचारों एवं सभ्यता का प्रादुर्भाव हुआ है। साथ ही उत्पादन के नवीन यंत्रों पर जिस वर्ग विशेष का अधिकार रहा है, उसके हाथ जनसाधारण के शोषण का हथियार भी लगा है, और उसी ने जन समाज पर अपनी सुविधानुसार राजनीतिक और सांस्कृतिक प्रभुत्व भी स्थापित किया है। पूँजीवादी युग ने संसार को जो 'विविध ज्ञान विज्ञान कला यंत्रों का अद्भुत कौशल' दिया है उसके अनुरूप सभ्यता और मानवता का प्रादुर्भाव न होने का मुख्य कारण पूँजीवादी प्रथा ही है, जिसकी ऐतिहासिक उपयोगिता अब नष्ट हो गई है। आज जब कि संसार में इतिहास का सबसे बड़ा युद्ध हो रहा है, और जिसके बाद पूँजीवादी साम्राज्यवाद का—जिसका चिह्न रूप फ़ासिज़्म है—शायद अंत भी हो जाय इस प्रथा के विरोधों का विवेचन करना पिष्टपेषण के समान है। जहाँ मनुष्य स्वभाव की सीमाएँ, एक ओर, वर्ग संघर्ष एवं राजनीतिक युद्धों के रूप में मानव जाति का रक्तपात कर उग्र प्रयोग कर रही हैं दूसरी ओर मनुष्य की विकासप्रिय प्रकृति समयानुकूल उपयुक्त दर्शन साहित्य एवं विचारों का प्रचार कर, नवीन मानवता का वातावरण पैदा करने के लिए,

सीमाओं के भीतर व्यक्ति का विकास जिस सापेक्ष पूर्णता तक पहुँच सका अथवा उस युग के सामूहिक विकास की पूर्णता व्यक्ति की चेतना में जिन विशिष्ट गुणों में प्रतिफलित हुई सामंत काल के दर्शन ने व्यक्ति के स्वरूप की उसी तरह निर्धारित किया है। यंत्र युग के सामूहिक विकास की पूर्णता उस धारणा में मौलिक (प्रकार का) परिवर्तन उपस्थित कर सकेगी।

प्रकृति और विवेक की तरह मनुष्य स्वभाव के बारे में भी कोई निश्चयात्मक (पाजिटिव) धारणा नहीं बनाई जा सकती। मनुष्य एक विवेकशील पशु है कहना पर्याप्त नहीं है। मनुष्य की सांस्कृतिक चेतना उसके मौलिक संस्कारों के संबंध में वस्तु-जगत् की परिस्थितियों से प्रभावित होती है वे परिस्थितियां ऐतिहासिक दिशा में विकसित होती रहती हैं। मनुष्य के मौलिक संस्कारों का देशकाल की परिस्थितियों के अनुसार जो नाम निर्धारित हो जाता है, अथवा उनके उपयोग के लिए जो सामाजिक प्रणालियाँ बँध जाती हैं, उनका वही व्यावहारिक रूप संस्कृति से सबद्ध है।

हम आने वाले युग के लिए 'स्थूल' को (यंत्रयुग की विकसित ऐतिहासिक परिस्थितियों के प्रतीक को) इसलिए सूक्ष्म' (भावी सांस्कृतिक मानों का प्रतीक) मानते हैं कि हमारे विगत सांस्कृतिक सूक्ष्म की पृष्ठभूमि विकसित व्यक्तिवाद के तत्वों से बनी है और हम जिस स्थूल को कल का 'शिव सुन्दर सत्य' मानते हैं वह स्थूल प्रतीक है सामूहिक विकास वाद का।

स्थूल युग का शिव सुन्दर सत्य स्थूल ही सूक्ष्म आज जन-प्राण! सामंत युग में जिस प्रकार सामाजिक रहन-सहन और शिष्टाचार का क्रम राजा से प्रजा की ओर प्रवाहित हुआ है उसी प्रकार नैतिक सदाचार और आदर्श इस युग के सगुण की दिशा में विकसित व्यक्ति से जन-साधारण की ओर। आज के व्यक्ति की प्रगति सामूहिक विकासवाद की दिशा को होनी चाहिए न कि सामंत युग के लिए उपयोगी विकसित व्यक्तिवाद की दिशा को। 'तब थर्म व्यक्ति गुण जनसमूह गुण अब विकसित'—

सामंत युग का नैतिक दृष्टिकोण उस युग की परिस्थितियों के कारण तदोक्त उच्च वर्ग के गुण (क्वालिटी) से प्रभावित था।

आने वाला युग सामंत युग की नैतिकता के पाश से मनुष्य को बहुत कुछ अर्थों में मुक्त कर सकेगा। और उसका 'पशु' (मौलिक संस्कार संबंधी सामंतकालीन नैतिक मान) विकसित वस्तु-परिस्थितियों के फलस्वरूप आध्यात्मिक दृष्टिकोण के परिवर्तन से बहुत कुछ अंशों में 'देव' (सांस्कृतिक मानों का प्रतीक) बन सकेगा।

'नहीं रहे जीवनोपाय तब विकसित
जीवन यापन कर न सके जन इच्छित।

देव और पशु भावों में जो सीमित
युग युग में होते परिवर्तित अवसित।

भावी सामाजिक सदाचार मनुष्य के मौलिक संस्कारों के लिए अधिक विकसित सामाजिक संबंध स्थापित कर सकेगा।

'अति मानवीय था निश्चय विकसित व्यक्तिवाद
मनुजों में जिसने भरा देव पशु का प्रमाद'

और

'मानव स्वभाव ही बन मानव आदर्श सुकर
करता अपूर्ण को पूर्ण असुंदर को सुंदर'—

आदि विचार मनुष्य के दैहिक संस्कारों के प्रति इसी प्रकार के आध्यात्मिक दृष्टिकोण के परिवर्तन की ओर संकेत करते हैं।

मनुष्य क्षुधाकाम की प्रवृत्तियों से प्रेरित होकर सामाजिक संगठन की ओर, और जरामरण के भय से आध्यात्मिक सत्य की खोज की ओर अग्रसर हुआ है। भौतिक दर्शन का यह दावा ठीक ही जान पड़ता है कि एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था में जिसमें कि अधिकाधिक मनुष्यों को क्षुधा-काम की परितृप्ति के लिए पर्याप्त साधन मिल सकते हैं और व

वर्तमान युग की संरक्षणहीनता से मुक्त हो सकते हैं, उन्हें अपने सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक विकास के लिए भी अधिक अवकाश और सुविधाएँ मिल सकेंगी। एक ओर समाजवादी विधान उत्पादन यंत्रों की सामाजिक उपयोगिता बढ़ाकर, मनुष्य को वर्तमान आर्थिक संघर्ष से मुक्त कर सकेगा दूसरी ओर वह उसे सामंतवादी सांस्कृतिक मार्गों की संकीर्णता से मुक्ति दे सकेगा जिनकी ऐतिहासिक उपयोगिता अब नहीं रह गई है और जिनकी धारणाएँ आमूल विकसित एवं परिवर्तित हो गई है। यदि भावी समाज मनुष्य को रोटी (अन आवश्यकताओं का प्रतीक) की चिन्ता से मुक्त कर सका तो उसके लिए केवल सांस्कृतिक संघर्ष का प्रश्न ही शेष रह जायगा। प्रत्येक धर्म और संस्कृति ने अपने देशकाल से संबंध रखने वाले सापेक्ष सत्य को निरपेक्ष (संपूर्ण) सत्य का रूप देकर, मनुष्य के (स्वर्ग नरक संबंधी) सुख और भय के संस्कारों से लाभ उठाकर, उसकी चेतना में धार्मिक और सामाजिक विधान स्थापित किए हैं जो कि सामंत युग की परिस्थितियों को सामने रखते हुए, व्यावहारिक दृष्टि से उचित ही था। इस प्रकार प्रत्येक युग पुरुष राम कृष्ण बुद्ध आदि, जो कि अपने युग के सापेक्ष के प्रतीक हैं जनता द्वारा शाश्वत पुरुष (निरपेक्ष) की तरह माने और पूजे गए हैं। सामंतकालीन उदात्तनामक के रूप में हमारे साहित्य के 'सत्यं शिवं सुंदरम्' के शाश्वत मान भी केवल उस युग के सगुण से संबंध रखने वाली सापेक्ष धारणाएँ मात्र हैं। जैसा कि मैं पहले भी कह चुका हूँ मनुष्य के मौलिक संस्कार, क्षुधा-काम आदि निरपेक्षत: कोई सांस्कृतिक मूल्य नहीं रखते। सभ्यता के युगों की विविध परिस्थितियों के अनरूप उनका जो व्यावहारिक सामाजिक और नैतिक मूल्य निर्दिष्ट हो जाता है इस का प्रभाव मनुष्य के सत्य शिव सुन्दर की भावनाओं में भी पड़ता है। मनुष्य की प्राणिक प्रवृत्तियों और सामाजिक परिस्थितियों के बीच में जितना अधिक साम्य स्थापित किया जा सकेगा उतना ही मनुष्य जन-समाज की सांस्कृतिक चेतना का भी विकास हो सकेगा। जिस सामाजिक व्यवस्था मे सामाजिक सदाचार और व्यक्ति की आवश्यकताओं की सीमाएँ एक दूसरे में लीन हो

जाएँगी, उस समाज में व्यक्ति और समाज के बीच का विरोध मिट जायगा व्यक्ति के क्षुद्र देह ज्ञान की (अहमात्मिका) भावना विकसित हो जाएगी उसके भीतर सामाजिक व्यक्तित्व स्वतः कार्य करने लगेगा और इस प्रकार व्यक्ति अपने सामूहिक विकास की आध्यात्मिक पूर्णता तक पहुँच जाएगा।

सामंत युग के स्त्री-पुरुष संबंधी सदाचार का दृष्टिकोण अब अत्यन्त संकुचित लगता है। उसका नैतिक मानदंड स्त्री की शरीर यष्टि रहा है। उस सदाचार के एक अंचल छोर को हमारी मध्ययुग की सती और हमारी बालविधवा अपनी छाती से चिपकाए हुई है और दूसरे छोर को उस युग की देन वेश्या। 'न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति' के अनुसार उस युग के आर्थिक विधान में भी स्त्री के लिए कोई स्थान नहीं और वह पुरुष की सम्पत्ति समझी जाती रही है। स्त्री-स्वातंत्र्य संबंधी हमारी भावना का विकास वर्तमान युग की आर्थिक परिस्थितियों के साथ ही हो रहा है। स्त्रियों का निर्वाचन अधिकार संबंधी आंदोलन बूर्ज्वा संस्कृति एवं पूँजीवादी युग की आर्थिक परिस्थितियों का परिणाम है। सामंत युग की नारी नर की छाया मात्र रही है।

> 'सदाचार की सीमा उसके तन से है निर्धारित
> पूतयोनि वह मूल्य चर्म पर केवल उसका अंकित।
> वह समाज की नहीं इकाई—शून्य समान अनिश्चित
> उसका जीवन मान मान पर नर के है अवलंबित।
> योनि नहीं है रे नारी वह भी मानवी प्रतिष्ठित।
> उसे पूर्ण स्वाधीन करो वह रहे न नर पर अवसित।

हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि संसार अभी सामंत युग की राजनैतिक और सांस्कृतिक भावनाओं ही से युद्ध कर रहा है पृथ्वी पर अभी यंत्र युग प्रतिष्ठित नहीं हो सका है। आने वाला युग मनुष्य की क्षुधा काम की प्रवृत्तियों में विकसित सामाजिक सामंजस्य स्थापित कर हमारे सदाचार के दृष्टिकोण एवं सत्यं शिवं सुन्दरम् की धारणाओं में युगांतर उपस्थित कर सकेगा।

ऐतिहासिक भौतिकवाद और भारतीय अध्यात्म दर्शन में मुझे किसी प्रकार का विरोध नहीं जान पड़ा क्योंकि मैंने दोनों को लोकोत्तर कल्याणकारी सांस्कृतिक पक्ष ही ग्रहण किया है। मार्क्सवाद के अन्दर श्रमजीवियों के संगठन वर्ग संघर्ष आदि से संबंध रखने वाले बाह्य दृश्य को जिसका वास्तविक निर्णय आर्थिक और राजनीतिक क्रांतियाँ ही कर सकती हैं मैंने अपनी कल्पना का अंग नहीं बनने दिया है। इस दृष्टि से मानवता एवं सर्वभूतहित की जितनी विशद भावना मुझे वेदान्त में मिली उतनी ही ऐतिहासिक दर्शन में भी। भारतीय दार्शनिक जहाँ सत्य की खोज में, सापेक्ष के उस पार, अवाङ् मनस गोचरम्' की ओर चले गये हैं वहाँ पाश्चात्य दार्शनिकों ने सापेक्ष के अन्तस्तल तक डुबकी लगाकर, उसके आलोक में जनसमाज के सांस्कृतिक विकास के उपयुक्त राजनीतिक विधान देने का भी प्रयत्न किया है। पश्चिम में वैज्ञानिक संघर्ष अधिक रहने के कारण नवीनतम समाजवादी विधान का विकास भी वहीं हो सका है।

फ्रायड जैसे निम्न मन के मनोवैज्ञानिक 'इड' के विश्लेषण से सापेक्ष के स्तर से नीचे जाने का आदेश नहीं देते हैं। वहाँ निरचेतन (अनकांशस) पर, विवेक का नियंत्रण न होने के कारण वे भ्रांति पैदा होने का भय बतलाते हैं। भारतीय तत्वद्रष्टा शायद अपने सूक्ष्म नाड़ी मनोविज्ञान (योग) के कारण सापेक्ष के उस पार सफलता-पूर्वक पहुँच कर 'तदंतरस्य सर्वस्य तत्सर्वस्यास्य बाह्यतः' सत्य की प्रतिष्ठा कर सके हैं।

मैं अध्यात्म और भौतिक दोनों दर्शनों के सिद्धान्तों से प्रभावित हुआ हूँ। पर भारतीय दर्शन की सामन्तकालीन परिस्थितियों के कारण जो एकांत परिणति व्यक्ति की जीवन-मुक्ति में हुई है (दृश्य जगत एवं ऐहिक जीवन के माया होने के कारण उसके प्रति विराग आदि की भावना जिसके उपसंहार मात्र हैं) और मार्क्स के दर्शन की पूँजीवादी परिस्थितियों के कारण जो वर्गयुद्ध और रक्तक्रांति में परिणत हुई है—ये दोनों परिणाम मुझे सांस्कृतिक दृष्टि से उपयोगी नहीं जान पड़े।

अध्यात्म दर्शन से हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि यह सापेक्ष

जगत ही सत्य नहीं, इससे परे जो निरपेक्ष सत्य है वह मन और बुद्धि से अतीत है। किन्तु इस सापेक्ष जगत का—जिसका सम्बन्ध मानव जाति की संस्कृतियों—आचार विचार, रीति नीति और सामाजिक सम्बन्धों से है—विकास किस प्रकार हुआ इस पर ऐतिहासिक दर्शन ही प्रकाश डाल सकता है। हमारे सांस्कृतिक हृदय के 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' का बोध सापेक्ष है सत्य इस सूक्ष्म से परे है— यह अध्यात्म दर्शन की विचारधारा का परिणाम है। जीवन शक्ति गतिशील (डाइनेमिक) है सामंतकालीन युग से अथवा विगत सांस्कृतिक मानों और आदर्शों से मानव समाज का संचालन भविष्य में नहीं हो सकता उसे नवीन जीवन मानों की आवश्यकता है जिसके ऐतिहासिक कारण हैं आदि —यह आधुनिक भौतिक दर्शन की विचारधारा का परिणाम है। एक जीवन के सत्य को ऊर्ध्वतल पर देखता है दूसरा समतल पर।

समन्वय के सत्य को मानते हुए भी मैं जो वस्तु दर्शन (ऑबजेक्टिव फ़िलॉसफ़ी) के सिद्धांतों पर इतना जोर दे रहा हूँ इसका यही कारण है कि परिवर्तन काल में भाव दर्शन (सबजेक्टिव फ़िलॉसफ़ी) की—जो कि अभ्युदय और आगरण युग की चीज है—उपयोगिता प्रायः नष्ट होती है। सच तो यह है कि हमें अपने देश के युगव्यापी अन्धकार में फैले इस मध्यकालीन संस्कृति के ऊर्ध्वमूल अश्वत्थ का जड़ और शाखा सहित उखाड़ कर फेंक देना होगा। और उस सांस्कृतिक चेतना के विकास के लिए देशव्यापी प्रयत्न और विचार संग्राम करना पड़ेगा जिसके मूल हमारे युग की प्रगतिशील वस्तुस्थितियों में हों। भारतीय दर्शन की दृष्टि से भी मूल अपने देश की संस्कृति के मूल उस दर्शन में नहीं मिलते, जिसका चरम विकास अद्वैतवाद में हुआ है। यह मध्यकालीन आचारासक्ता शताब्दियों के अन्धविश्वासों रूढ़ियों प्रथाओं और मतमतान्तरों की शाखाप्रशाखाओं में पुंजीभूत और आच्छन्न होकर एक हमारे जातीय जीवन के वृक्ष को जकड़ कर, उसकी वृद्धि रोके हुए है। इस जातीय रक्त को शोषण करने वाली व्याधि से मुक्त हुए बिना और नवीन वास्तविकता के आधारों और सिद्धांतों

को ग्रहण किए बिना हम में वह मानवीय एकता जातीय संगठन सक्रिय चैतन्य सामूहिक उत्तरदायित्व परोक्ष और ऐहिक विपत्तियों का निर्भीक साहस के साथ सामना करने की शक्ति और क्षमता नहीं आ सकती, जिसकी कि हमारे सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन में महामानवता भरने के लिए सबसे बड़ी आवश्यकता है। युग के सृजन एवं निर्माण काल में संस्कृति के मूल सदैव परिस्थितियों की वास्तविकता ही में होते हैं वह अधोमूल वास्तविकता समय के साथ साथ विकास एवं उत्कर्ष काल में ऊर्ध्वमूल (भावरूप) सांस्कृतिक चेतना बन जाती है। आज जब कि पिछले युगों की वास्तविकता आमूल परिवर्तित और विकसित होने जा रही है, हमारी संस्कृति को नवीन जन्म ग्रहण करने के प्रयास में फिर से अधोमूल होना ही पड़ेगा। हम शताब्दियों से एक ही मूल सत्य को नित्य नवीन रूप (इंटर प्रटेशंस) देते आए हैं अब उस सामंत युग की नवीन वस्तु-परिस्थितियों अनुरूप रूपांतरित होने की मौलिक क्षमता समाप्त हो गई है, क्योंकि विगत युगों की वास्तविकता आज तक मात्राओं में घट बढ़ रही थी अब वह प्रकार में बदल रही है।

मनुष्य का विकास समाज की दिशा को होता है समाज का इतिहास की दिशा को—इस ऐतिहासिक प्रगति के सिद्धान्त को हम इतिहास की वैज्ञानिक व्याख्या कहते हैं।

> 'अंतर्मुख अद्वैत पड़ा था युग युग से निष्क्रिय निष्प्राण
> जग में उसे प्रतिष्ठित करने दिया साम्य ने वस्तु विधान।

मौलिक दर्शन 'आत्मवत सर्वभूतेषु' के सत्य को सामाजिक वास्तविकता में परिणत करने योग्य समाजवादी विधान का जन्मदाता है। भारतीय दर्शन के अद्वैतवाद के सत्य को देशकाल के भीतर (संस्कृति के रूप में) प्रतिष्ठित करने के योग्य विधान को जन्म देना सामंत युग की परिस्थितियों के बाहर था। उसके लिए एक ओर भौतिक विज्ञान के विकास द्वारा भौतिक शक्तियों पर आधिपत्य प्राप्त करने की जरूरत थी दूसरी ओर मनुष्य की

सामूहिक चेतना के विकास की। जीवन की जिस पूर्णता के आदर्श को मनुष्य मात्र तब अन्तर जगत में स्थापित किए हुए था अब उसे एक सर्वांगपूर्ण तंत्र के रूप में वह बहिर्जगत् में भी स्थापित करना चाहता है। रहस्य और अलौकिकता के प्रति अब उसकी धारणा अधिक बौद्धिक और वास्तविक हो रही है। आने वाला युग सामन्त युग के स्वर्ग की अत मुँखी कल्पना और स्वप्नों को सामाजिक वास्तविकता का रूप दे सकेगा। मनुष्य का सृजन-शक्ति का ईश्वर लोक-कल्याण के ईश्वर में विकसित हो जायगा।

'स्वप्न वस्तु बन जाय सत्य नव स्वर्ग मानसी ही भौतिक भव
अन्तर जग ही बहिर्जगत बन जावे वीणा पाणि ! '

भौतिक जगत् की प्रारम्भिक कठोर परिस्थितियों से कुंठित आदिम मानव' की छिन्न आत्मा नवीन परिस्थितियों के प्रकाश में धुल कर आलोकित हो जाएगी और यंत्र-युग के साथ साथ मानव सभ्यता में स्वर्णयुग पदार्पण कर सकेगा। ऐसी सामाजिकता में मनुष्य जाति 'अहिंसा' को भी व्यावहारिक रूप में परिणत कर सकेगी।

'मनुष्यत्व का तत्व सिखाता निश्चय हमको गाँधीवाद
सामूहिक जीवन विकास की साम्य योजना है अविवाद'—

वर्तमान विश्वव्यापी युद्ध के युग में उपर्युक्त विवेचना के लिए शायद ही दो मत हो सकते हैं।

यदि स्वर्णयुग की आशा मात्र की मनुष्य आकांक्षा की काल्पनिक पूर्ति और पलायन प्रवृत्ति का स्वप्न भी है तो वह इस युग की मरणासन्न वास्तविकता से कहीं सत्य और अमूल्य है। यदि इस विज्ञान के युग में मनुष्य अपनी बुद्धि के प्रसार और हृदय की मधुरिमा से अपने लिए पृथ्वी पर स्वर्ग का निर्माण नहीं कर सकता और एक नवीन सामाजिक जीवन मात्र के रिक्त और सन्दिग्ध मनुष्य के जीवन के प्रति नवीन अनुराग नवीन कल्पना और स्वप्न नहीं भर सकता तो यह कहीं अच्छा है कि इस दिव्य

बर्बर, अभाव ज्वर पीड़ित' जाति वर्ग में विभाजित रक्त की प्यासी मनुष्य जाति का अन्त हो जाय। किन्तु जिस जीवन-शक्ति की महिमा युग युग से दार्शनिक और कवि गाते आए हैं, जिसके क्रियाकलापों और चमत्कारों का विश्लेषण कर आज के वैज्ञानिक चकित और मुग्ध हैं, वह सर्वमयी शक्ति केवल पृथ्वी का गौरव मानव जाति के विनाश को ही इस प्रकार जीता-जागता नरक बनाए रहेगी इस पर किसी तरह विश्वास नहीं होता।

इन्हीं विचारधाराओं स्वप्नों और कल्पना से प्रेरित होकर मैंने 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' को जन्म दिया। ग्राम्या के लिए युगवाणी पृष्ठभूमि का काम करती है। ग्राम्या की भूमिका में मैंने ग्रामीणों के प्रति अपनी जिस बौद्धिक सहानुभूति की बात लिखी है, उस पर मेरे आलोचकों ने मुझ पर आक्षेप किए हैं। 'ग्राम जीवन में मिल कर' उसके भीतर से मैं इसलिए नहीं लिख सका कि मैंने ग्राम जनता को 'रक्त मांस के जीवों' के रूप में नहीं देखा है, एक मरणोन्मुखी संस्कृति के अवयव स्वरूप देखा है, और ग्रामों को सामंत युग के खंडहर के रूप में।

'यह तो मानव लोक नहीं रे यह है नरक अपरिचित
यह भारत का ग्राम सभ्यता संस्कृति से निर्वासित।
'मानव दुर्गति की गाथा से ओतप्रोत मर्मान्तक
सदियों के अत्याचारों की सूची यह रोमांचक।

इसी ग्राम को मैंने ग्राम्या की रंगभूमि बनाया है।

'रूढ़ि रीतियों के प्रचलित पथ जाति पाँति के बंधन
नियत कर्म हैं, नियत कर्मफल—जीवन चक्र सनातन।

सांस्कृतिक दृष्टि से जिस प्रिय अप्रिय या सत्य मिथ्या के बोध से जनगण का जीवन परिचालित होता है उसकी ऐतिहासिक उपयोगिता नष्ट हो चुकी है।

वे जैसे कठपुतले निर्मित   युग युग की प्रेतात्मा अविदित
इनकी गति विधि करती यंत्रित। —

यह बात 'सारा भारत है आज एक रे महाग्राम' के लिए भी चरितार्थ होती है। इस प्रकार मैंने ग्रामीणों को 'भावी के स्वप्नपट' में चित्रित किया है, जिसमें—

'आज मिट गए दैन्य दुःख सब क्षुधा तृषा के क्रंदन
भावी स्वप्नों के पट पर युग जीवन करता नर्तन।
ग्राम नहीं वे नगर नहीं वे—मुक्त दिशा औ' क्षण से
जीवन की क्षुद्रता निखिल मिट गई मनुज जीवन से।

जिसकी तुलना में उनकी वर्तमान दशा 'ग्राम आज है पृष्ठ जनों की करुण कथा का जीवित'—प्रमाणित हुई है।

किन्तु जनता की इस सांस्कृतिक मृत्यु के कारणों पर नवीन विचार धारा पर्याप्त प्रकाश डालती है और वहाँ वे व्यक्ति नहीं रहते प्रत्युत एक प्रणाली के अंग बन जाते हैं। इसीलिए मैं उन्हें बौद्धिक सहानुभूति दे सका हूँ।

आज असुन्दर लगते सुन्दर, प्रिय पीड़ित शोषित जन
जीवन के दैन्यों से जर्जर मानव मुख हरता मन!

या

'घृणा धर्म गण तंत्र—उन्हें यदि प्रिय न पीत जन जीवन'
अथवा

'इन कीड़ों का भी मनुज बीज यह सोच हृदय उठता पसीज'
आदि पंक्तियाँ हार्दिकता से शून्य नहीं हैं। यदि मुझे सामंत-युग की संस्कृति के पुनर्जागरण पर विश्वास होता तो जनता के संस्कारों के प्रति मेरी हार्दिक सहानुभूति भी होती। तब मैं लिखता—'इस तालाब में (जन मन में) काई लग गई है हमें हटाना भर है इसके भन्दर का जल अभी निर्मल है।—जो पुनर्जागरण की ओर इंगित करता है पर मैंने लिखा है—'इस तालाब का पानी सड़ गया है इस कृमिपूर्ण जल से काम नहीं चलेगा उसमें भविष्य के लिए उपयोगी नया जल (संस्कृति)

भरता पड़ेगा।—जो सांस्कृतिक क्रांति की ओर कदम करता है। मैंने 'यहाँ धरा का मुख कुरूप है' ही नहीं कहा है 'कुत्सित पतित जन का केवल भावुकता और सहानुभूति से कैसे काम चल सकता है? वह तो ग्रामीणों के दुर्भाग्य पर आँसू बहाने या पराधीन क्षुधा-ग्रस्त किसानों को तपस्वी की उपाधि देने के सिवा हमें आगे नहीं ले जा सकती। इस प्रकार की थोथी सहानुभूति या क्षमा काव्य (पिटी पोयट्री) से मैंने भी आँखें 'गाँव के लड़के' 'वह बुड्ढा' 'ग्रामवधू' 'नहान' आदि कविताओं को बचाया है जिनमें वर्तमान प्रणाली के विकार, ग्रामीणों की दुर्गति का वर्णन होने के कारण ये बातें सहज ही में आ सकती थी।

डी० एच० लारेंस ने भी निम्न वर्ग की मानवता का चित्रण किया है और वह उन्हें हार्दिकता दे सका है पर हम दोनों के साहित्यिक उपकरणों में बड़ा भारी अंतर है। उसकी सर्वहारा (मशीन के संपर्क में आई हुई जनता) की बीमारी उनके राजनीतिक धर्म संस्कार है जिनका लारेंस ने चित्रण किया है। अपने देश के जनसमूह (मॉब) की बीमारी उससे कहीं गहरी आध्यात्मिकता के नाम में रूढ़ि रीतियों एवं अंधविश्वासों के रूप में पथराए हुए (फॉसिलाइज्ड) उनके सांस्कृतिक संस्कार हैं। लारेंस के पात्र अपनी परिस्थितियों के लिए सचेत और सक्रिय हैं। ग्राम्या के परिज्ञानापायण अपनी परिस्थितियों ही की तरह जड़ और अचेतन।

> 'जड़मूढ़, जड़भूत हठी वृष बांधव कर्षक
> भुव ममत्व की मूर्ति रूढ़ियों का चिर रक्षक।'

फिर लारेंस जीवन के मूल्यों के संबंध में प्राणिशास्त्रीय मनोविज्ञान (बायलॉजिकल प्लाट) से प्रभावित हुआ है, मैं ऐतिहासिक विचारधारा से, जिसका कारण स्पष्ट ही है कि मैं सन् १९४७ ई० तक पराधीन देश का कवि रहा हूँ। लारेंस जहाँ काम-पीड़न (सेक्सरिप्रेशन) से मुक्ति

चाहता हूँ, मैं राजनीतिक आर्थिक शोषण से। फिर भी मुझे विश्वास है कि ग्राम्या को पढ़ कर ऐसा नहीं कहा जा सकता कि मैंने दरिद्रनारायण के प्रति हृदयहीनता दिखलाई है।

ऐतिहासिक विचारधारा से मैं अधिक प्रभावित इसलिए भी हुआ हूँ कि उसमें कल्पना के स्रोत को विशद और वास्तविक पथ मिलता है। छायावाद के दिशाहीन शून्य सूक्ष्म आकाश में अति काल्पनिक उड़ान भरने वाली अथवा रहस्यवाद के निर्जन अदृश्य शिखर पर काल-हीन विराम करने वाली कल्पना को एक हरी भरी ठोस जनपूर्ण धरती मिल जाती है।

'ताक रहे हो गगन? मृत्यु नीलिमा गहन गगन?
निस्पंद शून्य, निर्जन नि:स्वन?
देखो भू को, स्वर्गिक भू को!
मानव पुण्य प्रसू को! —

यही सत्य परिवर्तन की ओर इंगित करता है। 'कितनी चिड़िया उड़े आकाश दाना है धरती के पास' वाली कहावत के अनुसार ऐतिहासिक भूमि पर उतर आने से कल्पना के लिए जीवन के सत्य का दाना सुलभ और साकार हो जाता है और कृषि वाणिज्य व्यवसाय कलाकौशल समाजशास्त्र, साहित्य नीति धर्म दर्शन के रूप में एवं भिन्न-भिन्न राजनीतिक आर्थिक व्यवस्थाओं में पंख खोल विचरता मनुष्य की सामूहिक चेतना का ज्ञान अधिक यथार्थ हो जाता है।

किए प्रयोग नीति सत्यों के तुमने जन जीवन पर
भावादर्श न सिद्ध कर सके सामूहिक जीवन हित'

के अनुसार मध्य युग के अन्तर्मुखी वैयक्तिक दर्शन के सिद्धांतों की जन समूह के लिए व्यावहारिक उपयोगिता के प्रति मेरा विश्वास उठ गया।

और

'वस्तुविभव पर ही जब जग का भाव विभव अवलंबित'

सत्य के आधार पर मेरा हृदय नवीन युग की सुविधाओं के अनुरूप एक ऐसी सामूहिक सांस्कृतिक चेतना की कल्पना करने लगा जिसमें मनुष्य के हृदय की सामंत युग की मूढ़ चेतना का बोध छूट जाय। साथ ही अभाव पीड़ित जनसमूह की दृष्टि से अतृप्त इच्छाओं का सामूहिक सात्विक विकास (सबलिमेशन) किया जा सकता है इस नैतिक तथ्य की व्यावहारिकता पर भी मुझे संदेह होने लगा।

छायावादी कवियों पर अतृप्त वासना का आरोप मध्यवर्गीय (बुर्जुआ) मनोविज्ञान (सेक्स साइकॉलॉजी) के दृष्टिकोण से नहीं लगाया जा सकता। भारत की मध्ययुग की नैतिकता का स्वरूप ही अतृप्त वासना और मूक वेदना को जन्म देता रहा है जिससे बंगाल के वैष्णव कवियों के कीर्तन एवं सूर-मीरा के पद भी प्रभावित हुए हैं। संसार में सभी देशों की संस्कृतियाँ अभी सामंत-युग की नैतिकता से पीड़ित हैं। हमारी क्षुधा (संपत्ति) काम (स्त्री) के लिए अभी वही भावना बनी है। पुरानी दुनिया का सांस्कृतिक संयुग अभी निष्क्रिय नहीं हुआ है और यंत्रयुग उन परिस्थितियों को जन्म नहीं दे रहा है, जिन पर अवलम्बित सामाजिक संबंधों से उदित नवीन प्रकाश (चेतना) मानव जाति का नवीन सांस्कृतिक हृदय बन सके।

'गत सघन नाम रूप होने को भी' नव प्रकाश
नव स्थितियों के सर्जन से हो नव सर्ग उदय
बन रहा मनुज की नव आत्मा सांस्कृतिक हृदय।

मेरी कल्पना भविष्य की उस मनुष्यता और सामाजिकता को चित्रित करने में सुख का अनुभव करने लगी जिसका आधार ऐतिहासिक सत्य है। ऐतिहासिक शब्द का प्रयोग मैं इतिहास विज्ञान ही के अर्थ में कर रहा हूँ जो सृष्टि और द्रष्टा के सामूहिक विकास के नियमों का निरूपण करता है,—'मानव गुण भव रूप नाम होते परिवर्तित युगपत्'। मैं यह

भी मानता हूँ कि सामूहिक विकास में बाह्य स्थितियों से प्रेरित होकर मनुष्य की अन्तश्चेतना (आइडी), तदनुकूल पहले ही विकसित हो जाती है। यथा—

> 'नव जीवन के मतर्मुख नियमों से स्वयं प्रवर्तित
> मानव का अवचेतन मन हो गया आज परिवर्तित।

किन्तु उसके बाद भी मनुष्य के उपचेतन (सबकांशस) के आश्रित विगत सांस्कृतिक युगों की प्रतिक्रियाएँ होती रहती हैं जिसका परिणाम बाह्य संघर्ष होता है, साथ ही वह मन विकसित निरचेतन (मनकांशस) की सहायता से प्रबुद्ध होकर नवीन सत्य का समन्वय भी करता जाता है।

अध्ययन से मेरी कल्पना जिन निष्कर्षों पर पहुँच सकी है, उनका मैंने ऊपर संक्षेप में निरूपण करने का प्रयत्न किया है। मैं कल्पना के सत्य को सबसे बड़ा सत्य मानता हूँ और उसे ईश्वरीय प्रतिभा का अंश भी मानता हूँ। मेरी कल्पना को भिन्न-भिन्न विचारधाराओं से प्रेरणा मिली है, उन सबका समीकरण करने की मैंने चेष्टा की है। मेरा विचार है कि वीणा से लेकर ग्राम्या तक अपनी सभी रचनाओं में मैंने अपनी कल्पना को वाणी दी है, और उसी का प्रभाव उन पर मुख्य रूप से रहा है। शेष सब विचार, भाव शैली आदि उसकी पुष्टि के लिए गौण रूप से काम करते रहे हैं।

मेरे आलोचकों का कहना है कि मेरी इधर की कृतियों में कला का अभाव रहा है। विचार और कला की तुलना में इस युग में विचारों को ही प्राधान्य मिलना चाहिए। जिस युग में विचार (आइडिया) का स्वरूप परिस्रव और स्पष्ट हो जाता है उस युग में कला का अधिक प्रयोग किया जा सकता है। उन्नीसवीं सदी में कला का कला के लिए प्रयोग होने लगा था। वह साहित्य में विचार क्रांति का युग नहीं था। किन्तु, क्या चित्रकला में क्या साहित्य में इस युग के कलाकार

केवल नवीन टैक्नीकों का प्रयोग मात्र कर रहे हैं जिनका उपयोग भविष्य में अधिक संगतिपूर्ण ढंग से किया जा सकेगा। आजरन-युग के कवियों में कविगुरु कालिदास और रवीन्द्रनाथ की तरह, कला का अत्यन्त सुचारु मिश्रण और मार्जन देखने को मिलता है। कवीन्द्र रवीन्द्र अपनी रचनाओं में सामंत-युग के समस्त कलावैभव का नवीन रूप से उपयोग कर सके हैं। उनसे परिपूर्ण कलात्मक, संगीतमय भावप्रवण और दार्शनिक कवि एवं साहित्य-स्रष्टा शताब्दियों तक दूसरा कोई हो सकता है इसके लिए ऐतिहासिक कारण भी नहीं है। भारत जैसे संपन्न देश का समस्त सामंतकालीन वाङ्मय अपने युग के सांस्कृतिक समन्वय का विश्व व्यापी स्वप्न देखने के लिए बुझने से पहले जैसे अपनी समस्त शक्ति को व्यय कर, रवि आलोकित प्रदीप की तरह, एक ही बार में प्रज्वलित होकर, अपने अलौकिक सौन्दर्य के प्रकाश में संसार को परिप्लावित कर गया है। फिर भी मैं स्वीकार करता हूँ कि इस विश्लेषण-युग के अधोत सरिण्य पराजित एवं असिद्ध कलाकार को विचारों और भावनाओं की अभिव्यक्ति के अनुकूल कला का यथोचित एवं यथासंभव प्रयोग करना चाहिए। अपनी युग-परिस्थितियों से प्रभावित होकर मैं साहित्य में उप योगितावाद ही को प्रमुख स्थान देता हूँ लेकिन सोने को सुगंधित करने की चेष्टा कलाकार को अवश्य करनी चाहिए।

प्रगतिवाद उपयोगितावाद ही का दूसरा नाम है। वैसे सभी युगों का लक्ष्य सदैव प्रगति ही की ओर रहा पर आधुनिक प्रगतिवाद ऐतिहासिक विज्ञान के आधार पर जनसमाज की सामूहिक प्रगति के सिद्धांतों का पक्षपाती है। इसमें संदेह नहीं कि मनुष्य का सामूहिक व्यक्तित्व उसके वैयक्तिक जीवन सत्य की संपूर्ण अंशों में पूर्ति नहीं करता। उसके व्यक्तिगत सुख दुःख नैराश्य विछोह आदि की भावनाएं उसके स्वभाव और रुचि का वैचित्र्य उसकी गुण-विशेषता प्रतिभा आदि का किसी भी सामाजिक जीवन के भीतर अपना पृथक और विशिष्ट स्थान रहेगा। किन्तु इसमें भी सन्देह नहीं कि एक विकसित सामाजिक

लिया है वहाँ मैं भावी मानवता के सत्य का सफलता-पूर्वक साक्षी दे सका हूँ और जहाँ मैं किसी कारणवश अपनी कल्पना के केन्द्र से च्युत या विलग हो गया हूँ वहाँ मेरी रचनाओं पर मेरे अध्ययन का प्रभाव अधिक प्रबल हो उठा है और मैं केवल बौद्धिक सत्य को दे सका हूँ। इस भूमिका में मैंने उस प्रश्नावली के उत्तरों का भी समावेश कर दिया है, जो मुझे डा० श्री वात्स्यायन जी ने मेरे आलोचक की हैसियत से आल इंडिया रेडियो से ब्राडकास्ट किए जाने के लिए तैयार की थी और जिसके बहुत से प्रश्नोत्तरों का आश्रय प्रस्तुत संग्रह में सम्मिलित रचनाओं पर प्रकाश डालने के लिए मुझे आवश्यक प्रतीत हुआ। इसके लिए मैं उनके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

मानव-समाज का भविष्य मुझे जितना उज्ज्वल और प्रकाशमय जान पड़ता है उसे वर्तमान के अन्धकार के भीतर से प्रकट करना उतना ही कठिन भी लगता है। भविष्य के साहित्यिक को इस युग के वाद विवादों अर्थशास्त्र और राजनीति के मतान्तरों द्वारा इस संदिग्धकाल के घृणा द्वेष कलह के वातावरण के भीतर से अपने को वाणी नहीं देनी पड़ेगी। उसके सामने आज के तर्क संघर्ष ज्ञान विज्ञान स्वप्न कल्पना सब घुलमिल कर एक सजीव सामाजिकता और सांस्कृतिक चेतना के रूप में वास्तविक एवं साकार हो जायँगे। वर्तमान युद्ध और रक्तपात के उस पार वह एक नवीन प्रबुद्ध, विकसित और हँसती-बोलती हुई, विश्व-निर्माण में निरत मानवता से अपनी सृजन-सामग्री ग्रहण कर सकेगा। इस परिवर्तन काल के विक्षुब्ध लेखक की अत्यन्त सीमाएँ और अपार कठिनाइयाँ हैं। इन पृष्ठों में अपने संबंध में लिखने में यदि कहीं ज्ञात-अज्ञात रूप से आत्मश्लाघा का भाव आ गया हो तो उसके लिए मैं हार्दिक खेद प्रकट करता हूँ। मैंने कहीं-कहीं अपने को दुहराया है और प्रायः विवादपूर्ण सिद्धान्तों का विस्तार-पूर्वक समाधान भी नहीं किया है। अन्त में मैं ग्राम्या की अन्तिम 'विनय' से दो पंक्तियाँ उद्धृत कर / लेखनी को विराम देता हूँ—

हो धरणि जनों की जगत स्वर्ग—जीवन का घर
नव मानव को दो प्रभु, भव मानवता का वर!

ईश्वरीभवन, अल्मोड़ा
१५ दिसम्बर १९४१

सुमित्रानंदन पंत

प्रस्तुत संस्करण

आधुनिक कवि भाग २ के इस संस्करण में मैंने यत्र-तत्र परिवर्तन परिवर्धन कर दिए हैं जिससे यह मेरी वर्तमान विकास-धारा का प्रतिनिधित्व कर सके। प्रस्तुत संस्करण की पृष्ठभूमि को स्पष्ट करने के लिए 'उत्तरा' तथा 'चिदंबरा' की भूमिकाएँ भी सहायक सिद्ध होंगी।

१८/७ बी कस्तूरबा गांधी मार्ग
इलाहाबाद
२४ जुलाई ६०

सुमित्रानंदन पंत

आधुनिक कवि

२

१ [illegible] में [illegible]
२ [illegible] ३ [illegible] [illegible]
४ [illegible] ५ [illegible] ६ [illegible]
७ [illegible] ८ [illegible]

✓ १ मोह
२ विनय
✓ ३ प्रथम रश्मि ✓
✓ ४ पर्वत प्रदेश में पावस — ६१ पेज 6 ✓
✓ ५ आँसू की बालिका
✓ ६ आँसू से
✓ ७ ग्राम्य से — ६१ — पेज — 14
✓ ८ बादल ✓
✓ ९ मुस्कान
१० मौन निमंत्रण ✓ — ६१ — पेज — 22
११ अनित्य जग ✓ ✓
१२ निष्ठुर परिवर्तन ✓ ६१ — पेज — 28 ✓
१३ नित्य जग ✓
१४ प्रार्थना ✓
१५ एक तारा ✓ — ६१ — पेज — 37
१६ नौका विहार ✓ ६१ — पेज — 40
१७ अप्सरा — ६१ — पेज 4[illegible]
१८ पतझर ✓
१९/२० गा कोकिल ✓ ✓
[illegible] 112 [illegible] मिलना देती है
106 [illegible] — ६१
79 [illegible] — ६१

छोड़ द्रुमों की मृदु छाया,
तोड़ प्रकृति से भी माया,
बाले! तेरे बाल-जाल में कैसे उलझा दूँ लोचन?
भूल अभी से इस जग को!

उपमा

तज कर तरल तरंगों को
इन्द्रधनुष के रंगों को
तेरे भ्रू भ्रंगों से कैसे बिंधवा दूँ निज मृग सा-मन?
भूल अभी से इस जग को!

अतिशयोक्ति

कोयल का वह कोमल बोल
मधुकर की वीणा अनमोल
पुरुष और स्त्री

कह तब तेरे ही प्रिय स्वर से कैसे भर लूँ सजनि श्रवण?
भूल अभी से इस जग को!

मानवीकरण किया गया है।

ऊषा-सस्मित किसलय-दल
सुधा-रश्मि से उतरा जल
ना, अधरामृत ही के मद में कैसे बहला दूँ जीवन?
भूल अभी से इस जग को!

(१९१८)

विनय

मा! मेरे जीवन की हार
तेरा मंजुल हृदय हार हो
मधुकणों का यह उपहार!
मेरे सफल श्रमों का सार
तेरे मस्तक का हो उज्ज्वल
श्रमजलमय मुक्तालंकार!
मेरे भूरि दुखों का भार
तेरी उर इच्छा का फल हो
तेरी आशा का शृंगार
मेरे रति कृति व्रत आचार
मा! तेरी निर्ममता हो नित
तेरे पूजन के उपचार—
यही विनय है बारंबार!

जनवरी (१९१८)

प्रथम रश्मि

प्रथम रश्मि का आना रंगिणि!
तूने कैसे पहचाना?
कहाँ कहाँ हे बाल विहंगिनि!
पाया तूने यह गाना?

सोई थी तू स्वप्न-नीड़ में
पंखों के सुख में छिपकर, धरती के रूप में पाया / नदी के रूप में पाये
झूम रहे थे घूम द्वार पर,
प्रहरी-से जुगनू नाना पहरेदार (सुन्दर उपमा)

शशि किरणों से उतर उतर कर
भू पर कामरूप नभचर नभचारी प॰ / ओस के
चूम नवल कलियों का मृदु मुख
सिखा रहे थे मुसकाना

स्नेह—हीन तारों के दीपक साम्य सुन्दर है
श्वास शून्य थे तरु के पात, आत्मीकरण
विचर रहे थे स्वप्न अवनि में अमूर्त स्वप्नों को मूर्त
तम ने था मंडप ताना चित्रित किया है।

कूक उठी सहसा तरु-वासिनि!
गा तू स्वागत का गाना
किसने तुझको अंतर्यामिनि!
बतलाया उसका आना?

विकल सृष्टि के अंध-गर्भ में
छाया-तन बहु छाया-हीन
नाच रहे थे बन निशिचर
बना कुहुक टोना-माना

छिपा रही थी मुख शशि बाला
निशि के श्रम से हो श्री-हीन
कमल क्रोड़ में बंदी था अलि
कोक शोक से दीवाना

मूर्छित थीं इन्द्रियाँ स्तब्ध जग
जड़-चेतन सब एकाकार,
शून्य विश्व के उर में केवल
साँसों का आना जाना

तूने ही पहिले बहु दर्शिनि!
गाया जागृति का गाना
श्री-सुख-सौरभ का नभचारिणि!
गूँथ दिया ताना बाना

निराकार तम मानो सहसा
ज्योति-पुंज में हो साकार,
बदल गया द्रुत जगत-जाल में
धर कर नाम-रूप नाना

सिहर उठे पुलकित हो द्रुम-दल
सुप्त समीरण हुआ अधीर,
झलका हास कुसुम-अधरों पर
हिल मोती का सा दाना

खुले पलक फैली सुवर्ण छवि,
खिली सुरभि, डोले मधु बाल
स्पंदन कम्पन औ' नव जीवन
सीखा जग ने अपनाना

प्रथम रश्मि का आना रंगिणि!
तूने कैसे पहचाना?
कहाँ कहाँ हे बाल विहंगिनि!
पाया यह स्वर्गिक गाना?

ो बालिका

एक वीणा की मृदु झंकार!
कहाँ है सुन्दरता का पार!
तुम्हें किस दर्पण में सुकुमारि,
दिखाऊँ मैं साकार!
तुम्हारे छूने मे था प्राण
संग में पावन गंगा स्नान
तुम्हारी वाणी में कल्याणि!
त्रिवेणी की लहरों का गान!
अपरिचित चितवन में था प्रात
सुधामय साँसों में उपचार,
तुम्हारी छाया में आधार,
सुखद चेष्टाओं में आभार!

करुण भौहों में था
हास में शैशव का
तुम्हारी आँखों में कर
प्रेम ने पाया था

कपोलों में उर के मृदु भाव
श्रवण नयनों में प्रिय बर्ताव
सरल संकेतों में संकोच
मृदुल अधरों में मधुर दुराव!
उषा का था उर में आवास
मुकुल का मुख में मृदुल विकास
चाँदनी का स्वभाव म भास
विचारों में बच्चों के साँस!

बिन्दु में थी तुम सिन्धु अनन्त,
एक स्वर में समस्त संगीत
एक कलिका में अखिल वसन्त
धरा में थी तुम स्वर्ग पुनीत।

विधुर उर के मृदु भावों से
तुम्हारा कर नित नव शृंगार,
पूजता हूँ मैं तुम्हें, कुमारि!
मूँद दुहरे दृग द्वार!
अचल पलकों में मूर्ति सँवार
पान करता हूँ रूप अपार
पिघल पड़ते हैं प्राण
उबल चलती है दृग जल धार!

बालकों-सा ही तो मैं
याद कर रोता हूँ अ
न जाने होकर भी अ
तुम किस से करता हूँ

× × ×

मूँद पलकों में प्रिया के ध्यान को
थाम ले अब हृदय! इस आह्वान को।
त्रिभुवन की भी तो भी भर सकती नहीं
प्रेयसी के शून्य पावन स्थान को।
तेरे उज्ज्वल आँसू सुमनों में सदा
वास करेंगे मग्न हृदय! उनकी व्यथा
अनिल पोंछेगी करुण उनकी कथा
मधुर बालिकाएँ गाएँगी सर्वदा।

'आँसू' से

विरह है अथवा यह वरदान!

कल्पना में है कसकती वेदना
अश्रु में जीता सिसकता गान है
शून्य आहों में सुरीले छन्द हैं,
मधुर लय का क्या कहीं अवसान है!

वियोगी होगा पहला कवि
आह से उपजा होगा गान
उमड़ कर आँखों से चुपचाप
बही होगी कविता अनजान!

हाय किसके उर में
उतारूँ अपने उर का भार!
किसे अब दूँ उपहार
गूँथ यह अश्रुकणों का हार!!

पावस ऋतु-सा जीवन
उमड़ा अपार मन,
धुँधले धुले साँवले
मेरे भरे नयन!

कभी उर में अगणित मृदुभाव
कूजते हैं विहगों-से हाय!
अरुण कलियों से कोमल घाव
कभी खुल पड़ते हैं असहाय!

इन्द्रधनु-सा आशा का सेतु
अनिल में अटका कभी अछोर,
कभी टूटेगी धूमिल घोर,
दीखती भावी चारों ओर।

तड़ित् सा सुमुखि! तुम्हारा ध्यान
प्रभा के पलक मार, उर चीर
गूढ़ गर्जन कर जब गंभीर
मुझे करता है अधिक अधीर
जुगनुओं-से उड़ मेरे प्राण
खोजते हैं तब तुम्हें निदान।

देखता हूँ जब उपवन
पियालों में फूलों के
प्रिये भर भर अपना यौवन
पिलाता है मधुकर को,
नवोढ़ा बाल-लहर
अचानक उपकूलों के
प्रसूनों के ढिग रुक कर
सरकती है सत्वर,
अकेली आकुलता सी प्राण!
कहीं तब करती मृदु आघात
सिहर उठता कृश गात
ठहर जाते हैं पग अज्ञात!

देखता हूँ जब पतला
इन्द्रधनुषी हलका
रेशमी घूँघट बादल का
खोलती है कुमुद-कला

तुम्हारे ही मुख का तो ध्यान
मझे करता तब अन्तर्धान
न जाने तुमसे कैसे प्राण
चाहते क्या आदान!

× × ×

बादलों के छायामय मेल
घूमते हैं आँखों में फैल!
अवनि औ' अम्बर के वे खेल
शैल में जलद जलद में शैल!

शिखर पर विचर मरुत-रखवाल
वेणु मे भरता था जब स्वर,
मेमनों-से मेघों के बाल
कुदकते थे प्रमुदित गिरि पर!

इन्द्रधनु की सुन कर टंकार
उचक चपला के चंचल बाल
दौड़ते थे गिरि के उस पार
देख उड़ते-विशिखों की धार

मरुत जब उनको द्रुत पुचकार,
रोक देता था मेघासार!

अचल के जब वे विमल विचार
अवनि से उठ उठ कर ऊपर,
विपुल व्यापकता में अविकार
लीन हो जाते थे सत्वर,

विहंगम सा बैठा गिरि पर
सुहाता था विशाल अम्बर!

पपीहों की वह पीन पुकार,
निर्झरों की भारी झर् झर्
झींगुरों की झीनी झनकार
घनों की गुरु गम्भीर घहर
बिन्दुओं की छनती छनकार
दादुरों के वे दुहरे स्वर

हृदय हरते थे विविध प्रकार
शैल-पावस के प्रश्नोत्तर।
खैंच ऐंचीला भ्रू-सुरचाप—
शैल की सुधि यों बारम्बार—
हिला हरियाली का सुदुकूल
झुला झरनों का झलमल हार
जलद-पट से दिखला मुख-चन्द्र
पलक पल पल चपला के मार

मग्न, उर पर भूधर सा हाय!
सुमुखि धर देती है साकार!

(१९२२)

ग्रन्थि से

इन्दु पर, उस इन्दु-मुख पर, साथ ही
थे पड़े मेरे नयन जो उदय से
लाज से रक्तिम हुए थे—पूर्व को
पूर्व था पर वह द्वितीय अपूर्व था!
बाल रजनी सी अलक थी डोलती
भ्रमित हो शशि के वदन के बीच में
अचल रेखांकित कभी थी कर रही
प्रमुखता मुख की सुछवि के काव्य में।

एक पल मेरे प्रिया के दृग पलक
थे उठे ऊपर, सहज नीचे गिरे,
चपलता ने इस विकम्पित पुलक से
दृढ़ किया मानो प्रणय सम्बन्ध था।
लाज की मादक सुरा सी लालिमा
फैल गालों में नवीन गुलाब-से
छलकती थी बाढ़ सी सौन्दर्य की
अधखुले सस्मित गढ़ों से सीप-से
इन गढ़ों में—रूप के आवर्त-से
घूम-फिर कर, नाव से किसके नयन
हैं नहीं डूबे भटक कर, अटक कर,
भार से दब कर तरुण सौन्दर्य के

जब प्रणय का प्रथम परिचय मूकता
दे चुकी थी हृदय को उस मत्त से
बैठ कर मैंने निकट ही शान्त हो
विनत वाणी में प्रिया से यों कहा—

'सुस्मित-शोभे! जो पतित आहत भ्रमर
सदय हो तुमने लगाया हृदय से
एक सरस तरंग से उसको बचा
दूसरी में क्यों डुबाती हो तुम?
'प्रेम कण्टक से अचानक बिद्ध हो
जो सुमन तरु से बिलग है हो चुका
निज दया से द्रवित उर में स्थान दे
क्या न सरस विकास दोगी तुम उसे?
'मलिन उर धूसर तिमिर का अरुण-कर
कनक आभा में खिलाते हैं कमल
प्रिय बिना तम-दीप मेरे हृदय की
प्रणय कलिका की तुम्हीं प्रिय कान्ति हो।

'यह विलम्ब! कठोर हृदये! मग्न को
बालुका भी क्या बचाती है नहीं?
निठुर का मुझको भरोसा है बड़ा
गिरि शिलाएँ ही अभय आधार हैं।
'म्लान तम में ही कलाधर की कला
कौमुदी बन कीर्ति पाती है धवल
दीनता के ही विकम्पित पात्र में
दान बढ़ कर छलकता है प्रीति से।

'प्रिय! निराश्रिति की कठिन बाँहें नहीं
शिथिल पड़ती हैं प्रलोभन भार से
नम्रता की संकुचित आँखें सदा
चमकती हैं अल्प भी उपकार से।
'दयानिल से विपुल पुलकित हो सहज
सरल उपकृति का सजल मानस प्रिये!

क्षीण करुणाकोर का भी लोक को
है बृहत् प्रतिबिम्ब दिखलाता सदा।

शरद के निर्मल तिमिर की ओट में
नव मिलन के पलक दल सा झूमता
कौन मादक कर मुझे है छू रहा
प्रिय! तुम्हारी मूकता की आड़ से?
'यह अनोखी रीति है क्या प्रेम की
जो अपांगों से अधिक है देखता
दूर होकर और बढ़ता है तथा
वारि पीकर पूछता है घर सदा'?

इन्दु की छवि में तिमिर के गर्भ में
अनिल की ध्वनि में सलिल की वीचि में
एक उत्सुकता विचरती थी सरस
सुमन की स्मिति में लता के अधर में।
निज पलक मेरी विकलता साथ ही
अवनि से उर से मृगेक्षिणि ने उठा
एक पल निज स्नेह श्यामल दृष्टि से
स्निग्ध कर दी दृष्टि मेरी दीप सी।

बादल

सुरपति के हम ही हैं अनुचर,
जगत्प्राण के भी सहचर
मेघदूत की सजल कल्पना
चातक के चिर जीवनधर,

मुग्ध शिखी के नृत्य मनो
सुभग स्वाति के मुक्ताक
विहग वर्ग के गर्भ विधा
कृषक बालिका के जल

जलाशयों में कमल दलों-सा
हमें खिलाता नित दिनकर,
पर बालक-सा वायु सकल दल
बिखरा देता चुन सत्वर

लघु लहरों के चल पलनों में
हमें झुलाता जब सागर,
वहीं चील सा झपट बाँह गह
हमको ले जाता ऊपर।

भूमि-गर्भ में छिप विहंग-से
फैला कोमल रोमिल पंख
हम असंख्य अस्फुट बीजों में
सेते साँस छुड़ा जड़ पंक,

विपुल कल्पना-से त्रिभुवन की
विविध रूप धर, भर नभ अंक
हम फिर क्रीड़ा कौतुक करते
छा अनन्त उर में निःशंक।

कभी अचानक भूतों का सा
प्रकटा विकट महा आकार,
कड़क कड़क जब हँसते हम सब
थर्रा उठता है संसार

फिर परियों के बच्चों-से हम
सुभग सीप के पंख पसार,
समुद तैरते शुचि ज्योत्स्ना में
पकड़ इन्दु के कर सुकुमार।

बुदबुद-द्युति तारक-दल-तरलित
तम के यमुना-जल में श्याम
हम विशाल जम्बाल-जाल-से
बहते हैं अमूल अभिराम

दमयन्ती-सी कुमुद-कला के
रजत-करों में फिर अभिराम
स्वर्ण-हंस-से हम मृदु ध्वनि कर
कहते प्रिय-सन्देश ललाम।

दुहरा विद्युदाम चढ़ा द्रुत
इन्द्रधनुष की कर टंकार,
विकट पटह-से निर्घोषित हो
बरसा विशिखों-सा आसार

चूर्ण चूर्ण कर वज्रायुध से
भूधर को अति भीमाकार
मदोन्मत्त वासव-सेना-से
करते हम नित वायु-विहार।

व्योम-विपिन में जब वसन्त-सा
खिलता नव पल्लवित प्रभात
बहते हम तब अनिल-स्रोत में
गिर तमाल-तम के-से पात

उदयाचल से बाल हंस फिर
उड़ता अम्बर में अवदात
फैल स्वर्ण-पंखों से हम भी
करते द्रुत मारुत से बात।

धीरे धीरे संशय-से उठ,
बढ़ अपयश-से शीघ्र अछोर,
नभ के उर में उमड़ मोह-से
फैल लालसा से निशि भोर

इन्द्रचाप सी व्योम भृकुटि पर
लटक मौन चिन्ता-से घोर,
घोष भरे विप्लव-भय-से हम
छा जाते द्रुत चारों ओर।

पर्वत से लघु धूलि धूलि से
पर्वत बन पल में साकार—
काल-चक्र-से चढ़ते गिरते
पल में जलधर, फिर जल-धार

कभी हवा में महल बना कर,
सेतु बाँध कर कभी अपार,
हम विलीन हो जाते सहसा
विभव-भूति ही-से निस्सार।

उमीम

गगन गगन की शाखाओं में
फैला मकड़ी का-सा जाल
अम्बर के उड़ते पतंग को
उलझा लेते हम तत्काल

फिर अनन्त-उर की
स्वरित द्रवित होकर, उदार—
आतप में मूर्छित कलियों को
जाग्रत करते हिमजल डाल।

हम सागर के धवल हास हैं
जल के धूम गगन की धूल
अनिल फेन ऊषा के पल्लव
वारि-वसन वसुधा के मूल

नभ में अवनि अवनि में अंब
सलिल-भस्म मारुत के फू
हम ही जल में थल थल में ज
दिन के तम पावक के तूल

योम-बेलि ताराओं की गति
लते-अचल, गगन के गान
म अपलक तारों की तन्द्रा
योत्स्ना के हम शशि के यान

पवन-धेनु, रवि के पांशुल श्रम
सलिल-अनल के विरल-वितान
व्योम-पलक जल-थल बहते जल
अम्बुधि की कल्पना महान।

मुसकान

कहूँ क्या मुझसे सब नाम
कभी आता है इसका ध्यान!
रोकने पर भी तो सखि हाय!
नहीं रुकती है यह मुसकान!

विपिन में पावस के-से दीप
सुकोमल सहसा सौ सौ भाव
सजग हो उठते नित उर बीच
नहीं रख सकती तनिक दुराव!
कल्पना के ये शिशु नादान
हँसा देते हैं मुझे निदान!

तारकों से पलकों पर कूद
नींद हर लेते नव नव भाव
कभी बन हिमजल की लघु बूँद
बढ़ाते मुझसे चिर अपनाव
गुदगुदाते ये तन मन प्राण
नहीं रुकती तब यह मुसकान!

कभी उड़ते-पत्तों के साथ
मुझे मिलते मेरे सुकुमार
बढ़ाकर लहरों से निज हाथ
बुलाते फिर मुझको उस पार
नहीं रखती मैं जग का ज्ञान
और हँस पड़ती हूँ अनजान!
रोकने पर भी तो सखि! हाय
नहीं रुकती तब यह मुसकान!

मौन निमन्त्रण

स्तब्ध ज्योत्स्ना में जब संसार
चकित रहता शिशु सा नादान
विश्व के पलकों पर सुकुमार
विचरते हैं जब स्वप्न अजान
न जाने नक्षत्रों से ....
निमन्त्रण देता मुझको मौन!

सघन मेघों का भीमाकाश
गरजता है जब तमसाकार,
दीर्घ भरता समीर निश्वास
प्रखर झरती जब पावस धार
न जाने तपक तड़ित् में कौन
मुझे इंगित करता तब मौन!

देख वसुधा का यौवन-भार
गूँज उठता है जब मधुमास
विधुर उर के-से मृदु उद्गार
कुसुम जब खुल पड़ते सोच्छ्वास
न जाने सौरभ के मिस कौन
संदेशा मुझे भेजता मौन!

क्षुब्ध जल-शिखरों को जब ....
सिन्धु में मथ कर फेनाकार,
बुलबुलों का व्याकुल संसार
बना बिथुरा देती अज्ञात
उठा तब लहरों से कर कौन
न जाने मुझे बुलाता मौन!

न जाने कौन अये छविमान
जान मुझको अबोध अजान
सुझाते हो तुम पथ अनजान
फूँक देते छिद्रों में गान

अहे सुख दुख के सहचर मौन!
नहीं कह सकती तुम हो कौन!

(१९२५) तमसो मा ज्योतिर्गमय
मृत्योर्मामृतंगमय
असतो मा सद्गमय

(१)

आज तो सौरभ का मधुमास
शिशिर में भरता सूनी साँस!

वही मधुऋतु की गुंजित डाल
झुकी थी जो यौवन के भार,
अकिंचनता में निज तत्काल
सिहर उठती—जीवन है भार!
आज पावस नद के उद्गार
काल के बनते चिह्न कराल,
प्रात का सोने का संसार
जला देती सन्ध्या की ज्वाल!
अखिल यौवन के रंग-उभार
हड्डियों के हिलते कंकाल,
कचों के चिकने काले व्याल
केंचुली काँस सिवार
गूँजते हैं सबके दिन चार,
सभी फिर हाहाकार!

(२)

आज बचपन का कोमल गात
जरा का पीला पात!
चार दिन सुखद चाँदनी रात
और फिर अन्धकार, अज्ञात!

शिशिर सा झर नयनों का नीर
झुलस देता गालों के फूल

प्रणय का चुम्बन छोड़ अधीर
अधर जाते अधरों को भूल!

मृदुल होठों का हिमजल हास
उड़ा जाता निःश्वास समीर
सरल भौंहों का शरदाकाश
घेर लेते घन घिर गम्भीर!

शून्य साँसों का विधुर वियोग
छुड़ाता अधर-मधुर संयोग,
मिलन के पल केवल दो-चार
विरह के कल्प अपार!

अरे, वे अपलक चार नयन
आठ आँसू रोते निरुपाय
उठे-रोमों के आलिंगन
कसक उठते काँटों-से हाय!

(२)

किसी को सोने के सुख साज
मिल गये यदि ऋण भी कुछ आज
चुका लेता दुख कल ही ब्याज
काल को नहीं किसी की लाज!

विपुल मणि रत्नों का छवि जाल
इंद्रधनु की सी छटा विशाल—
विभव की विद्युत्-ज्वाल
चमक छिप जाती है तत्काल

मोतियों जड़ी ओस की डार
हिला जाता चुपचाप बयार!

खोलता इधर जन्म लोचन
मूँदती उधर मृत्यु क्षण क्षण
अभी उत्सव औ, हास हुलास
अभी अवसाद अश्रु उच्छ्वास!

अचिरता देख जगत की आप
शून्य भरता समीर निःश्वास
डालता पातों पर चुपचाप
ओस के आँसू नीलाकाश

सिसक उठता समुद्र का मन,
सिहर उठते उडुगन!

(१९२४)

निष्ठुर परिवर्तन

(१)

निष्ठुर परिवर्तन!

तुम्हारा ही ताण्डव नर्तन
विश्व का करुण विवर्तन!
तुम्हारा ही नयनोन्मीलन
निखिल उत्थान पतन!

वासुकि सहस्र फन!
लक्ष अलक्षित चरण तुम्हारे चिह्न नि
छोड़ रहे हैं जग के विक्षत वक्षस्थल
शत शत फेनोच्छ्वसित स्फीत फूत्कार, भ
घुमा रहे हैं घनाकार जगती का अम्ब
मृत्यु तुम्हारा गरल दन्त कंचुक कल्पान

अखिल विश्व ही विवर,
वक्र कुण्डल
दिङ्मण्डल!

(२)

दुर्जेय विश्वजित्!

नवाते शत सुरवर, नरनाथ
तुम्हारे इन्द्रासन तल माथ
घूमते शत शत भाग्य अनाथ
सतत रथ के चक्रों के साथ!

तुम नृशंस नृप-से जगती पर चढ़ अनियन्त्रित
करते हो संसृति को उत्पीड़ित पद मर्दित
नग्न नगर कर, भग्न भवन प्रतिमाएँ खण्डित
हर लेते हो विभव कला कौशल चिर सञ्चित !
आधि व्याधि बहुवृष्टि वात उत्पात अमंगल
वह्नि, बाढ़ भूकम्प तुम्हारे विपुल सैन्य दल,
अहे निरंकुश ! पदाघात से जिनके विह्वल

हिल हिल उठता है टलमल
पद दलित धरातल !

(२)

जगत का अविरत हृत्कम्पन
तुम्हारा ही भय सूचन
निखिल पलकों का मौन पतन
तुम्हारा ही आमन्त्रण !

विपुल वासना विकच विश्व का मानस शतदल
छान रहे तुम कुटिल काल कृमि-से घुस पल-पल
तुम्हीं स्वेद सिञ्चित संसृति के स्वर्ण शस्य दल
दलमल देते वर्षोपल बन वांछित कृषि फल !
अये सतत ध्वनि स्पन्दित जगती का दिङ्मण्डल

नैश गगन सा सकल
तुम्हारा ही समाधि स्थल !

(४)

काम का अकरुण भृकुटि विलास
तुम्हारा ही परिहास
विश्व का अश्रु पूर्ण इतिहास!
तुम्हारा ही इतिहास!

एक कठोर कटाक्ष तुम्हारा अखिल प्रलयंकर
समर छेड़ देता निसर्ग संसृति में निर्भर,
भूमि चूम जाते अभ्रध्वज सौध शृंग वर,
नष्ट भ्रष्ट साम्राज्य—भूति के मेघाडम्बर!
अये एक रोमाञ्च तुम्हारा दिग्भू कम्पन
गिर गिर पड़ते भीत पक्षि पोतों-से उडुगण
आलोड़ित अम्बुधि फेनोन्नत कर शत शत फन
मुग्ध भुजंगम-सा इंगित पर करता नर्तन!
दिक् पिञ्जर में बद्ध गजाधिप सा विनतानन

वाताहत हो गगन
आर्त करता गुरु गर्जन!

(५)

जगत की सुन कातर चीत्कार
बेधती बधिर! तुम्हारे कान!
अश्रु स्रोतों की अगणित धार
सींचती उर पाषाण!

अरे क्षण क्षण सौ सौ निःश्वास
छा रहे जगती का आकाश!
चतुर्दिक् घहर घहर आक्रान्ति
ग्रस्त करती सुख शान्ति!

(१)

हाय री दुर्बल भ्रान्ति! —
कहाँ नश्वर जगती में शान्ति?
सृष्टि ही का तात्पर्य अशान्ति!
जगत अविरत जीवन संग्राम
स्वप्न है यहाँ विराम!

एक सौ वर्ष नगर उपवन
एक सौ वर्ष, विजन वन!

—यही तो है असार संसार,
सृजन, *सिञ्चन* *संहार*!
आज गर्वोन्नत हर्म्य अपार
रत्न दीपावलि मन्त्रोच्चार
उलूकों के कल भग्न विहार
झिल्लियों की झनकार
दिवस निशि का यह विश्व विशाल
मेघ मारुत का माया जाल!

(१९२४)

(१)

नित्य का यह अनित्य नर्तन
विवर्तन जग, जग व्यावर्तन
अचिर में चिर का अन्वेषण
विश्व का तत्व-पूर्ण दर्शन!

अतल से एक अकूल उमंग
सृष्टि की उठती तरल तरंग
उमड़ शत शत बुद्बुद संसार
बूड़ जाते निस्सार!
बना सैकत के तट अति
मिटा देती अज्ञात!

(२)

एक छवि के असंख्य उडगन
एक ही सब में स्पन्दन
एक छवि के विभात में लीन
एक विधि के आधीन!

एक ही लोल लहर के छोर
उभय सुख दुख निशि भोर,
इन्हीं से पूर्ण त्रिगुण संसार,
सृजन ही है, संहार!

मूँदती नयन मृत्यु की रा
खोलती नव जीवन की प्रा
शिशिर की सर्व प्रलयकर वा
बीज बोती अज्ञात!

(जी.ना.दे)

म्लान कुसुमों की मृदु मुसकान
फलों में फलती फिर अम्लान
महत् है, अरे, आत्म बलिदान
जगत केवल आदान प्रदान!

(३)

एक ही तो असीम उल्लास
विश्व में पाता विविधाभास
तरल जलनिधि में हरित विलास,
शान्त अम्बर में नील विकास

वही उर-उर में प्रेमोच्छ्वास
काव्य में रस कुसुमों में बास
अचल तारक पलकों में हास
लोल लहरों में लास!

विविध द्रव्यों में विविध प्रकार
एक ही मर्म मधुर झंकार!

(४)

वही प्रज्ञा का सत्य स्वरूप ज्ञानमयी आत्मा
हृदय में बनता प्रणय अपार
लोचनों में लावण्य अनूप
लोक सेवा में शिव अविकार

स्वरों में ध्वनित मधुर सुकुमार
सत्य ही प्रेमोद्गार,
दिव्य सौन्दर्य स्नेह साकार
भावनामय संसार!

पंत

(५)

स्वीय कर्मों ही के अनुरूप
एक गुण फलता विविध प्रकार
कहीं राखी बनता सुकुमा
कहीं बेड़ी का भार!

(६)

कामनाओं के विविध प्रहार
छेड़ जगती के उर के तार,
जगाते जीवन की झंकार
स्फूर्ति करते संचार

चूम सुख दुख के पुलिन अपार
छलकती आशामृत की धार!

विवश होठों का छिपता हास
दृगों को देता जीवन दान
वेदना ही में तप कर प्राण
दमक दिखलाते स्वर्ण हुलास!

तरसते हैं हम आठों याम
इसी से सुख अति सरस प्रकाम
सहते निशि दिन का संग्राम
इसी से जग अभिराम

अलभ है इष्ट अतः अनमोल
साधना ही जीवन का मोल!

(७)

बिना दुख के सब सुख निस्सार,
बिना आँसू के जीवन भार

दीन दुर्बल है रे संसार,
इसी से दया क्षमा औ' प्यार!

(८)

आज का दुख कल का आह्लाद,
और कल का सुख आज विषाद
समस्या स्वप्न-गूढ़ संसार,
पूर्ति जिसकी उस पार
जगत जीवन का अर्थ विकास
मृत्यु, गति क्रम का ह्रास!

(९)

हमारे काम न अपने काम
नहीं हम जो हम ज्ञात
अरे निज छाया में उपनाम
छिपे हैं हम अपरूप

गँवाने आए हैं अज्ञात
गँवा कर पाते स्वीय स्वरूप!

(१९२४)

जग के उर्वर आँगन में
बरसो ज्योतिर्मय जीवन!
बरसो लघु लघु तृण तरु पर
हे चिर अव्यय चिर नूतन!
बरसो कुसुमों में मधु बन
प्राणों में अमर प्रणय धन
स्मिति स्वप्न अधर पलकों में
उर अंगों में सुख यौवन!
छू छू जग के मृत रज कण
कर दो तृण तरु में चेतन
मृन्मरण बाँध दो जग का
दे प्राणों का आलिंगन!
बरसो सुख बन सुखमा बन
बरसो जग जीवन के घन!
दिशि दिशि में औ' पल पल में
बरसो संसृति के सावन!

नीरव सन्ध्या में प्रशान्त
डूबा है सारा ग्राम प्रान्त।

पत्रों के आनत अधरों पर सो गया निखिल वन का मर्मर
ज्यों वीणा के तारों में स्वर।

खग कूजन भी हो रहा लीन निर्जन गोपथ अब धूलि-हीन
धूसर भुजंग सा जिह्म क्षीण।

झींगुर के स्वर का प्रखर तीर केवल प्रशान्ति को रहा चीर
सन्ध्या प्रशान्ति को कर गभीर।

इस महाशान्ति का उर उदार, चिर आकांक्षा की तीक्ष्ण धार,
ज्यों बेध रही हो आर-पार।

अब हुआ सान्ध्य-स्वर्णाभ लीन
सब वर्ण-वस्तु से विश्व हीन।

गंगा के चल-जल में निर्मल कुम्हला किरणों का रक्तोत्पल
है मूँद चुका अपने मृदु दल।

लहरों पर स्वर्ण-रेख सुन्दर पड़ गई नील ज्यों अधरों पर
अरुणाई प्रखर-शिशिर से डर।

तरु-शिखरों से वह स्वर्ण-विहग उड़ गया खोल निज पंख सुभग
किस गुहा-नीड़ में रे किस मग!

मृदु-मृदु स्वप्नों से भर अंचल नव नील-नील कोमल-कोमल
छाया तरु वन में तम श्यामल।

पश्चिम-नभ में हूँ रहा देख
उज्ज्वल अमन्द नक्षत्र एक।

अकलुष अनिन्द्य नक्षत्र एक ज्यों मूर्तिमान ज्योतित विवेक
उर में हो दीपित अमर टेक।

किस स्वर्णाकांक्षा का प्रदीप वह लिए हुए? किसके समीप?
मुक्तालोकित ज्यों रजत-सीप।

उसकी आत्मा का चिर-धन स्थिर अपलक-नयनों का चिन्तन
क्या खोज रहा वह अपनापन?

न है दुर्लभ अपनापन लगता यह निखिल विश्व निर्जन
वह निष्फल इच्छा से निर्धन।

आकांक्षा का उच्छ्वसित वेग
मानता नहीं बन्धन विवेक।

र आकांक्षा से ही पल-पल, उद्वेलित रे अथाह सागर
नाचती लहर पर हहर लहर।

मरुत्-स्वप्न ही में गर्जन करते अथाह रवि शशि उडुगण
दुस्तर आकांक्षा का बन्धन।

भू का करते प्राण विकल। क्या नीरव-नीरव नयन सजल!
जीवन निस्संग रे व्यर्थ विफल।

एकाकीपन का अन्धकार, दुःसह है इसका मूक-भार
इसके विषाद का रे न पार।

चिर अविचल पर तारक अमन्द!
जानता नहीं वह छन्द-बन्ध!

यह है अनन्त का मुक्त मौन अपने असंग सुख में विलीन
स्थित निज स्वरूप में चिर-नवीन।

निष्कम्प-शिखा-सा वह निरुपम भेदता जगत-जीवन का तम
वह शुद्ध, प्रबुद्ध, शुक्र वह सम!

गुंजित अलि-सा निर्जन अपार, मधुमय लगता घन अन्धकार
हलका एकाकी व्यथा भार!

जगमग-जगमग नभ का आँगन लद गया कुन्द कलियों से घन
वह आत्म और यह जग-दर्शन।

शान्त स्निग्ध ज्योत्स्ना उज्ज्वल
अपलक अनन्त नीरव भू-तल !

सैकत-शय्या पर दुग्ध-धवल तन्वंगी गंगा ग्रीष्म-विरल,
लेटी है श्रान्त क्लान्त निश्चल !

तापस-बाला गंगा निर्मल शशि मुख से दीपित मृदु-करतल
लहरें उर पर कोमल कुन्तल।

गोरे अंगों पर सिहर-सिहर, लहराता तार-तरल सुन्दर
चंचल अंचल सा नीलाम्बर।

साड़ी की सिकुड़न-सी जिस पर, शशि की रेशमी विभा से भर,
सिमटी है वर्तुल मृदुल लहर।

चाँदनी रात का प्रथम प्रहर,
हम चले नाव लेकर सत्वर।

सिकता की सस्मित-सीपी पर मोती की ज्योत्स्ना रही विचर
लो पालें चढ़ीं उठा लंगर।

मृदु मन्द-मन्द, मन्थर-मन्थर, लघु तरणि हंसिनी-सी सुन्दर
तिर रही खोल पालों के पर।

निश्चल जल के शुचि दर्पण पर बिम्बित हो रजत-पुलिन निर्भर
दुहरे ऊँचे लगते क्षण भर।

कालाकाँकर का राज-भवन सोया जल में निश्चिन्त प्रमन
पलकों में वैभव स्वप्न सघन।

नौका से उठती जल-हिलोर,
हिल पड़ते नभ के ओर-छोर।

तिर्यक नयनों से निश्चल कुछ खोज रहे चल तारक दल
ज्योतित कर जल का अंतस्तल।
जिनके लघु दीपों को चंचल अंचल की ओट किए अविरल
फिरतीं लहरें लुक-छिप पल पल।
सामने शुक्र की छवि झलमल पैरती परी-सी जल में कल
रुपहरे कचों में हो ओझल।
लहरों के घूँघट से झुक-झुक दशमी का शशि निज तिर्यक मुख
दिखलाता मुग्धा सा रुक-रुक।
अब पहुँची चपला बीच धार,
छिप गया चाँदनी का कगार।
बाँहों-से दूरस्थ तीर धारा का कृश कोमल शरीर
आलिंगन करने को अधीर!
अति दूर क्षितिज पर विटप माल लगती भ्रू रेखा सी अराल,
अपलक नभ नील नयन विशाल
मा के उर पर शिशु-सा समीप सोया धारा में एक द्वीप
ऊर्मिल प्रवाह को कर प्रतीप,
वह कौन विहग? क्या विकल कोक उड़ता हरने निज विरह शोक?
छाया की कोकी को विलोक।

पतवार घुमा अब प्रतनु भार
नौका घूमी विपरीत धार।
डाँड़ों के चल करतल पसार भर भर मुक्ताफल फेन-स्फार,
बिखराती जल में तार-हार।

चाँदी के साँपों सी रलमल नाचतीं रश्मियाँ जल में चल
रेखाओं सी खिंच तरल-सरल।

लहरों की लतिकाओं में खिल सौ सौ शशि सौ सौ उडु झिलमिल
फैले फूले जल में फेनिल।

अब उथला सरिता का प्रवाह, लग्गी से ले-ले सहज थाह
हम बढ़े घाट को सहोत्साह।

ज्यों-ज्यों लगती है नाव पार
उर में आलोकित शत विचार।

इस धारा सा ही जग का क्रम शाश्वत इस जीवन का उद्गम
शाश्वत है गति शाश्वत संगम।

शाश्वत नभ का नीला विकास शाश्वत शशि का यह रजत-हास
शाश्वत लघु-लहरों का विलास।

हे जग-जीवन के कर्णधार! चिर जन्म-मरण के आर-पार
शाश्वत जीवन-नौका-विहार।

मैं भूल गया अस्तित्व ज्ञान जीवन का यह शाश्वत प्रमाण
करता मुझको अमरत्व-दान।

(१९३२)

प्सरा

निखिल कल्पनामयि अयि अप्सरि!
अखिल विस्मयाकार!
अकथ अलौकिक अमर, अगोचर
भावों की आधार!
गूढ़, निरर्थ असंभव अस्फुट
भेदों की शृंगार!
मोहिनि कुहुकिनि छल विभ्रममयि
चित्र विचित्र अपार!

शैशव की तुम परिचित सहचरि
जग से चिर अनजान
नव शिशु के संग छिप छिप रहती
तुम मा का अनुमान
डाल अँगूठा शिशु के मुँह में
देती मधु स्तन दान
छिपी थपक से उसे सुलाती
गा गा नीरव गान!

ऊषा के छाया पथ से आ
शिशु उर में सविलास
अधरों के अस्फुट मुकुलों में
रँगती स्वप्निल हास
इन कपालों से अजान शिशु
सुन विस्मित इतिहास
नव नयनों में नित्य तुम्हारा
रचते छायाभास!

[illegible]

प्रथम रूप मदिरा से उन्मद
यौवन में उद्दाम
प्रेयसि के प्रत्यंग अंग से
लिपटी तुम अभिराम
मुग्धा के उर में रहस्य बन,
हरती मन प्रतियाम
मृदुल पुलक मुकुलों से भर कर
देह लता छवि धाम!
स्वप्नलोक में पुलक नृत्य तुम
करती लघु पद भार
तड़ित् चकित चितवन से चंचल
कर सुर सभा अपार!
नग्न देह पर नव रँग सुरधनु
छायापट सुकुमार,
खोंस नील नभ की वेणी में
इंदु कुंद द्युति स्फार!

स्वर्गंगा में जल विहार तुम
करती बाहु मृणाल!
पकड़ तैरते इंदु बिम्ब के
नत पद रजत मराल!
उड़ उड़ नभ में शुभ्र फेन कण
बन जाते उडु-बाल
सजल देह द्युति चल लहरों में
बिम्बित सरसिज माल!

रवि छवि चुम्बित चल जलदों पर
तुम नभ में उड़ पार,

लगा अंक से तड़ित् भीत शशि—
मृग शिशु को सुकुमार,
छोड़ गगन में चंचल उडुगण
चरण चिह्न लघु भार,
नागदंत नत इंद्रधनुष पुल
करती हो नित पार!

कभी स्वर्ग की थी तुम अप्सरि,
अब वसुधा की बाल
जग के शैशव के विस्मय से
अपलक पलक प्रवाल!
बाल युवतियों की सुरती में
घूमा मनोज मराल
खिलखाती मृदु रोम हास तुम
चितवन कला मराल!

तुम्हें खोजते छाया वन में
अब भी कवि विख्यात
जब जग जब निशि प्रहरी जुगनू
सो जाते चिर प्रात
सिहर लहर, मर्मर कर तरुवर,
तड़क तड़ित् अज्ञात
अब भी चुपके इंगित देते
गूँज मधुप कवि भ्रात!

गौर-श्याम तन बैठ प्रभा-तम
भगिनी भ्रात समान।
बुनते मृदुल मसृण छायातप
तुम्हें सखि! दिन रात

पनामीम

स्वर्ण भृंग से रजत हिलोरें
कंचु झलकती प्रात
सुरँग रेशमी पंख तितलियाँ
झुका सिकुड़ी गात!

तुहिन बिन्दु में इंदु रश्मि सी
सोई तुम चुपचाप
मुकुल शयन में स्वप्न देखती
निज निरुपम छवि आप
चटुल लहरियों से चल चुम्बित
मसृण मुकुल पद चाप
कलियों में निद्रित मधुपों से
करती मौनालाप!

नील रेशमी तम का कोमल
खोल खोल कचभार,
तार तरल लहरा लहराम्बर
स्वप्न-विकच स्तन हार
शशिकर सी मृदु पद सरसी में
करती तुम अभिसार
दुग्ध फेन मारुत ज्योत्स्ना में
ज्योत्स्ना सी सुकुमार!

मेंहदी युत मृदु करतल छवि से
कुसुमित सुभग सिंगार,
गौर देह द्युति हिम शिखरों पर
बरस रही साभार
पद लालिमा ऊषा पुलकित
शशि-स्मित घन सोभार,

उड़ कंपन मृदु मृदु उर स्पंदन
चपल वीचि पद चार!
शत भावों के विकच दलों से
मंडित एक प्रभात
खिली प्रथम सौंदर्य पद्म सी
तुम जग में अवदात
भृंगों-से अगणित रवि शशि ग्रह
गूँज उठे प्रभात
चमज्जलधि हिल्लोल विलोड़ित
गंध अंध दिशि वात!

जननी के अनिमिष पलकों पर
स्वर्णिम स्वप्न समान
उदित हुई थी तुम अनत
यौवन में चिर अम्लान
चंचल अंचल में फहरा कर
भावी स्वर्ण विहान
स्मित आनन पर नव प्रकाश से
दीपित नव दिनमान!

सखि! मानस के स्वर्ग पाश म
चिर सुख में आसीन
अपनी ही सुषमा में अनुपम
इच्छा में स्वाधीन
प्रति युग में आती हो रंगिणि!
रच रच रूप नवीन
तुम सुर-नर-मुनि-ईप्सित अप्सरि!
त्रिभुवन भर में लीन!

मतामीम

अंग अंग अभिनव शोभा का
नव वसंत सुकुमार,
भृकुटि भंग नव नव इच्छा के
भृंगों का गुंजार
शत शत मधु आकांक्षाओं से
स्पंदित पृथु उर भार,
नव आशा के मृदु मुकुलों से
पुलकित तनु पदचार।

निखिल विश्व से निज गौरव
महिमा सुषमा कर दान
निज अपलक उर के स्वप्नों से
प्रतिमा कर निर्माण
पल पल का विस्मय विधि विधि की
प्रतिभा कर परिधान
तुम्हें कल्पना औ' रहस्य में
छिपा दिया भगवान!
जग के दुख सुख पाप ताप
तृष्णा ज्वाला से हीन
जरा जन्म भय मरण शून्य
यौवनमयि नित्यनवीन
अतल विश्व शोभा वारिधि में
मज्जित जीवन मीन
तुम अदृश्य अस्पृश्य अप्सरी
निज सुख में तल्लीन।

(फरवरी १९१२)

प्रगतिवाद की ओर बढ़ रहा है।
मार्क्सवादी विचारधारा से प्रभावित।

द्रुत झरो जगत के जीर्ण पत्र!
हे स्रस्त-ध्वस्त! हे शुष्क-शीर्ण!
हिम ताप पीत मधु-वात भीत
तुम वीत राग, जड़ पुराचीन!!

निष्प्राण विगत-युग! मृत विहंग!
जग-नीड़ शब्द औ' श्वास-हीन
च्युत अस्त-व्यस्त पंखों-से तुम
झर झर अनन्त में हो विलीन!

कंकाल जाल जग में फैले
फिर नवल रुधिर, पल्लव लाली!
प्राणों की मर्मर से मुखरित
जीवन की मांसल हरियाली!

मंजरित विश्व में यौवन के
जग कर जग का पिक मतवाली
निज अमर प्रणय स्वर मदिरा से
भर दे फिर नव युग की प्याली!

[illegible]

(...री १४)

गा, कोकिल

गा कोकिल बरसा पावक कण!
नष्ट भ्रष्ट हो जीर्ण पुरातन
ध्वंस भ्रंश जग के जड़ बंधन!
पावक पग धर आए नूतन
हो पल्लवित नवल मानवपन!

गा कोकिल भर स्वर में कंपन!
झरें जाति कुल वर्ण पर्ण घन
अंध नीड़-से रूढ़ि रीति छन
व्यक्ति राष्ट्र गत राग द्वेष रण
झरें मरें विस्मृति में तत्क्षण!

गा कोकिल गा—कर मत चिंतन!
नवल रुधिर से भर पल्लव तन
नवल स्नेह सौरभ से यौवन
कर मंजरित नव्य जग जीवन
गूँज उठें पी पी मधु सब जन!

गा कोकिल नव गान कर सृजन!
रच मानव के हित नूतन मन
वाणी वेश भाव नव शोभन
स्नेह सुहृदता हो मानस धन
करें मनुज नव जीवन यापन!

प्रयाग

गा, कोकिल सन्देश सनातन !
मानव दिव्य स्फुलिंग चिरंतन
वह न देह का नश्वर रज कण !
देश काल हैं उसे न बंधन
मानव का परिचय मानवपन !
कोकिल गा मुकुलित हों दिशि क्षण !

सृष्टि

मिट्टी का गहरा अन्धकार,
डूबा है उसमें एक बीज —
वह खो न गया मिट्टी न बना
कोदों सरसों से क्षुद्र चीज!

उस छोटे उर में छिपे हुए
हैं डाल-पात औ' स्कन्ध-मूल
गहरी हरीतिमा की संसृति
बहु रूप-रंग फल और फूल!

वह है मुट्ठी में बन्द किए
वट के पादप का महाकार,
संसार एक! आश्चर्य एक!
वह एक बूंद, सागर अपार!

बन्दी उसमें जीवन-अंकुर
जो तोड़ निखिल जग के बन्धन —
पाने को है निज सत्व — मुक्ति!
जड़ निद्रा से जग कर चेतन!

आः भेद न सका सृजन रहस्य
कोई भी! वह जो क्षुद्र पोत
उसमें अनन्त का है निवास
वह जग जीवन से ओत प्रोत!

मिट्टी का गहरा अन्धकार
सोया है उसमें एक बीज—
उसका प्रकाश उसके भीतर,
वह अमर पुत्र। वह तुच्छ बीज?

मानव

सुन्दर हैं विहग सुमन सुन्दर,
मानव! तुम सबसे सुन्दरतम
निर्मित सबकी तिल-सुषमा से
तुम निखिल सृष्टि में चिर निरुपम!
यौवन ज्वाला से वेष्टित तन
मृदु त्वच सौन्दर्य प्ररोह अंग
न्योछावर जिन पर निखिल प्रकृति
छाया प्रकाश के रूप-रंग!

धावित कृश नील शिराओं में
मदिरा से मादक रुधिर धार,
आँखें हैं दो लावण्य-लोक
स्वर में निसर्ग-संगीत-सार!
पृथु उर, उरोज ज्यों सर, सरोज
दृढ़ बाहु प्रलम्ब प्रेम-बन्धन
पीनोरु स्कन्ध जीवन-तरु के
कर, पद अंगुलि नख-शिख शोभन!

यौवन की मांसल स्वस्थ गन्ध
नव युग्मों का जीवनोत्सर्ग!
आह्लाद अखिल सौन्दर्य अखिल,
आः प्रथम-प्रेम का मधुर स्वर्ग!
आशाभिलाष उच्चाकांक्षा
उद्यम अजस्र विघ्नों पर जय
विश्वास असद्-सद् का विवेक
दृढ़ श्रद्धा सत्य-प्रेम अक्षय!

मानी मूर्तियाँ ये अमन्द
गुरुता त्याग सहानुभूति
जो स्तम्भ सभ्यता के पार्थिव
संस्कृति स्वर्गीय—स्वभाव-पूर्ति!

मानव का मानव पर प्रत्यय,
परिचय, मानवता का विकास,
विज्ञान ज्ञान का अन्वेषण,
सब एक एक सब में प्रकाश!
प्रभु का अनन्त वरदान तुम्हें,
उपभोग करो प्रतिक्षण नव-नव
क्या कमी तुम्हें है त्रिभुवन में
यदि बने रह सको तुम मानव!

हाय! मृत्यु का ऐसा अमर, अपार्थिव पूजन,
जब विषण्ण, निर्जीव पड़ा हो जग का जीवन!
स्फटिक-सौध में हो शृंगार मरण का शोभन
नग्न क्षुधातुर, वास-विहीन रहें जीवित जन!
मानव! ऐसी भी विरक्ति क्या जीवन के प्रति!
आत्मा का अपमान प्रेत औ' छाया से रति!!
प्रेम-अर्चना यही करें हम मरण को वरण?
स्थापित कर कंकाल भरें जीवन का प्रांगण?
शव को दें हम रूप रंग आदर मानव का?
मानव को हम कुत्सित चित्र बना दें शव का?
युग युग के मृत आदर्शों के ताज मनोहर
मानव के मोहान्ध हृदय में किए हुए घर!
भूल गए हम जीवन का सन्देश अनश्वर
मृतकों के हैं मृतक जीवितों का है ईश्वर?

(अक्टूबर ३२)

दो लड़के

मेरे आँगन में (टीले पर है मेरा घर)
दो छोटे-से लड़के आ जाते हैं अकसर।
नंगे तन गदबदे साँवले, सहज छबीले,
मिट्टी के मटमैले पुतले—पर, फुर्तीले।
जल्दी से टीले के नीचे उधर, उतर कर
वे चुन ले जाते कूड़े से निधियाँ सुन्दर—
सिगरेट के खाली डिब्बे पन्नी चमकीली
फीतों के टुकड़े तस्वीरें नीली पीली
मासिक पत्रों के कवरों की औं' बन्दर से
किलकारी भरते हैं खुश हो-हो अन्दर से।
दौड़ पार आँगन के फिर हो जाते ओझल
वे नाटे छः सात साल के लड़के मांसल!
सुन्दर लगती नग्न देह मोहती नयन-मन
मानव के नाते उर में भरता अपनापन।
मानव के बालक हैं ये पासी के बच्चे
रोम रोम मानव साँचे में ढाले सच्चे।
अस्थि-मांस के इन जीवों का ही यह जग घर,
आत्मा का अधिवास न यह,—वह सूक्ष्म अनश्वर।
न्यौछावर है आत्मा नश्वर रक्त मांस पर
जग का अधिकारी है वह जो है दुर्बलतर।
वह्नि बाढ़ उल्का झंझा की भीषण भू पर
कैसे रह सकता है कोमल मनुज कलेवर।
निष्ठुर है जड़ प्रकृति सहज भंगुर जीवित जन
मानव को चाहिए यहाँ मनुजोचित साधन।
क्यों न एक हों मानव मानव सभी परस्पर
मानवता निर्माण करें जग में लोकोत्तर?

जीवन का प्रासाद उठे भू-पर गौरवमय
मानव का साम्राज्य बने—मानव हित निश्चय।
जीवन की क्षण-धूलि रह सके जहाँ सुरक्षित
रक्त मांस की इच्छाएँ जन की हों पूरित।
मनुज प्रेम से जहाँ रह सकें—मानव ईश्वर!
और कौन सा स्वर्ग चाहिए तुझे धरा पर?

(१९४८)

। नीम

सर् सर् मर् मर्
रेशम के-से स्वर भर,
घने नीम दल
लम्बे पतले चंचल
श्वसन स्पर्श से
रोम हर्ष से
हिल हिल उठते प्रति पल!
वृक्ष शिखर से भू-पर
शत शत मिश्रित ध्वनि कर
फूट पड़ा हो निर्झर,
मरुत—कम्प भर!
झूम झूम झुक झुक कर,
भीम नीम तरु निर्भर
सिहर सिहर थर् थर् थर्
करता सर् मर्
चर् मर्!
लिप पुत गए निखिल दल
हरित गुल्म में ओझल
वायु वेग से अविरल
धातु-पत्र-से बज कल!
खिसक खिसक साँसें भर,
भीत पीत कृश निर्बल
नीम दल सकल
झर झर पड़ते पल पल!

(१९३८)

बापू

किन तत्वों से गढ़ जाओगे तुम भावी मानव को?
किस प्रकाश से भर जाओगे इस समरोन्मुख भव को?
सत्य अहिंसा से आलोकित होगा मानव का मन?
अमर प्रेम का मधुर स्वर्ग बन जाएगा जग जीवन?
आत्मा की महिमा से मंडित होगी नव मानवता?
प्रेम शक्ति से चिर निरस्त्र हो जाएगी पाशवता?

बापू! तुमने सुन आत्मा का तेजराशि आह्वान
हँस उठते हैं रोम हर्ष से पुलकित होते प्राण!
भूतवाद उस धरा स्वर्ग के लिए मात्र सोपान
जहाँ आत्म-दर्शन अनादि से समासीन अम्लान!
नहीं जानता युग विवर्त में होगा कितना जन क्षय
पर, मनुष्य को सत्य अहिंसा इष्ट रहेंगे निश्चय!
नव संस्कृति के दूत! देवताओं का करने कार्य
मानव आत्मा को उबारने आए तुम अनिवार्य!

(१९४८)

यु उपकरण

ह गीति संगीत बीन हो जिसमें जग जीवन संघर्ष
ह आदर्श मनुज स्वभाव हो जिसका दोष-गुण निष्कर्ष !
ह रूपसौंदर्य सहन कर सके बाह्य वैरूप्य विरोध
र्भित अनुकंपा, न घृणा का करे घृणा से जो परिशोध !

नम्र शक्ति वह, जो सहिष्णु हो निर्बल को बल करे प्रदान
धर्म प्रेम मानव मानव हों जिसके लिए अभिन्न समान
वह पवित्रता जगती के कलुषों से जो न रहे संत्रस्त
वह सुख, जो सर्वत्र सभी के सुख के लिये रहे संन्यस्त !

लित कला कुत्सित कुरूप जग का जो रूप करे निर्माण
ह दर्शन-विज्ञान मनुजता का हो जिससे चिर कल्याण !
ह संस्कृति मन मानवता का जिसमें चिर खिल भव्य स्वरूप
ह विश्वास मृत्युंजय भवसागर में जो चिर ज्योति स्तूप !

रीति नीति जो विश्व प्रगति में बनें नहीं जड़ बंधन पाश
ऐसे उपकरणों से हो भू मानवता का पूर्ण विकास !

(१९४८)

रूप सत्य

मुझे रूप ही भाता।
प्राण! रूप ही मेरे उर में
मधुर भाव बन जाता।
मुझे रूप ही भाता।

जीवन का चिर सत्य
नहीं दे सका मुझे परितोष
मुझे ज्ञान से वस्तु सुहाती
सूक्ष्म बीज से कोष!

सच है, जीवन के वसन्त में
रहता है पतझार
वर्ण गंधमय कलि कुसुमों का
पर, ऐश्वर्य अपार!

राशि राशि सौन्दर्य प्रेम
आनंद गुणों का सार
मुझे लुभाता रूप रंग
रेखाओं का संसार!

मुझे रूप ही भाता!
प्राण! रूप का सत्य
रूप के भीतर नहीं समाता!
मुझे रूप ही भाता!

(१९३८)

स्मिथ के प्रति

आज यहीं मानव जग को यह मर्मोज्ज्वल उल्लास
जो कि तुम्हारी डाल डाल पर करता सहज विकास!
आज प्रथम ज्वाला में ज्यों जल गए विश्व के पाश
यौवन की हिल्लोल लोल उमड़ी छूने आकाश।
आकांक्षाएँ ललित अवनि की हुईं पूर्ण उन्मुक्त
नव रसोज्ज्वल तेज धरा के जीवन के उपयुक्त!
जनगण के जीवन विकास में हुआ नवीन प्रभात
वर्गों का हरितांधकार हो उठा ज्योति अवदात!

नव जीवन का रुधिर शिराओं में कर वहन पलाश
पुष्प दल दल से मानव जग में तुमने भरा प्रकाश!
यह शोभा यह शक्ति दीप्ति यह यौवन की उद्दाम
भरती मन में ओज दृगों को लगती प्रिय अभिराम।
जीवन की आकांक्षाओं का यह सौन्दर्य अमंद
मानव भी उपभोग कर सके मुक्त, स्वस्थ आनंद!

(१९१८)

वाणी

वाणी वाणी
जीवन की वाणी दो मुझको भास्वर!
मौन गगन की भेद
बोलते जिस वाणी में उडुगण,
जिसमें नीरव गिरि से निःसृत
झरते मुखरित निर्झर!

जिस वाणी मे मेघ गरजते
लहरा उठते सागर,
जिसमें नित दामिनी चमकती
मोर नाचते सुन्दर!

वाणी वाणी
मुझे वस्तु वाणी दो पूर्ण चिरंतन!
जिस वाणी मे भू मलयानिल
पुलकों से भरता तन
जिसमें मृदु मुख कुसुम खोलते
मधु मधु करते नर्तन!

जिस वाणी में क्षुधा तृषा
औ' काम दीप्त करते तन
जिसमें स्वप्न सुख दुख उठते
जाते शैशव यौवन!

वाणी वाणी
मुझे सृष्टि की वाणी दो अविनश्वर!

जो मृदु वर्ण मम कर्णों में
रती गुंजन निरंतर
जिस वाणी में अनुभव करते
मुझे निश्चित चराचर!

जो वाणी चिर जन्म मरण,
तम औ' प्रकाश से है पर,
जो वाणी जीवन की जीवन
शाश्वत, सुन्दर, अक्षर!
वाणी वाणी
मुझको दो घट घट की वाणी के स्वर!

(१९५८)

ग्राम कवि

यहाँ न पल्लव वन में मर्मर,
यहाँ न मधु विहगों में गुंजन,
जीवन का संगीत बन रहा
यहाँ अतृप्त हृदय का रोदन!

यहाँ नहीं शब्दों में बँधती
आदर्शों की प्रतिमा जीवित,
यहाँ व्यर्थ है चित्र गीत में
सुन्दरता को करना संचित!

यहाँ धरा का मुख कुरूप है,
कुत्सित गर्हित जन का जीवन,
सुन्दरता का मूल्य वहाँ क्या
जहाँ उदर हो क्षुब्ध नग्न तन?—

जहाँ दैन्य जर्जर असंख्य जन
पशु-जघन्य क्षण करते यापन
कीड़ों-से रेंगते मनुज शिशु,
जहाँ अकाल वृद्ध है यौवन!

सुलभ यहाँ रे कवि को जग में
युग का नहीं सत्य शिव सुन्दर,
कँप कँप उठते उसके उर की
व्यथा विमूर्छित वीणा के स्वर!

(१९४०)

काष्ठ

आँखों ही में घूमा करता
वह उसकी आँखों का तारा
कारकुनों की लाठी से जो
गया जवानी ही में मारा!
बिका दिया घर द्वार,
महाजन ने न ब्याज की कौड़ी छोड़ी
रह रह आँखों में चुभती वह
कुर्क हुई बरधों की जोड़ी!

उजरी उसके सिवा किसे कब
पास दुहाने आने देती?
अह, आँखों में नाचा करती
उजड़ गई जो सुख की खेती!
बिना दवा दर्पन के गृहिणी
स्वरग चली आँखें आतीं भर,
देख रेख के बिना दुधमुँही
बिटिया दो दिन बाद गई मर!

घर में विधवा रही पतोहू
लछमी थी यद्यपि पति घातिन
पकड़ मँगाया कोतवाल ने
डूब कुएँ में मरी एक दिन!
खैर, पैर की जूती जोरू
एक न सही दूसरी आती
पर जवान लड़के की सुध कर
साँप लोटते फटती छाती!

पिछले सुख की स्मृति आँखों में
क्षण भर एक चमक है लाती
मरघट

मुख शून्य में पड़ बहु चितवन,
तीखी नोक सदृश बन जाती।
मनुज की चेतना में ममता
रहती तब आँखों में उस क्षण,
हर्ष शोक, अपमान ग्लानि
दुख दैन्य न जीवन का आकर्षण!

उस अवचेतन क्षण में मानो
वे मुकुर करतीं अवलोकन
ज्योति तमस के परदों पर
युग जीवन के पट का परिवर्तन।
अंधकार की अतल गुहा सी
अह उन आँखों से डरता मन
वर्ग सभ्यता के मंदिर के
निचले तल की वे वातायन।

भारत माता

भारत माता
ग्राम वासिनी।
खेतों में फैला हुआ श्यामल
शस्य भरा जनजीवन आँचल
गंगा यमुना में शुचि श्रम जल
शील मूर्ति
सुख दुख उदासिनी।

स्वप्न मौन प्रभु पद नत चितवन
ओठों पर हँसते दुख के क्षण
संयम तप का धरती सा मन
स्वर्ण कला
भू पथ प्रवासिनी।

तीस कोटि सुत अर्ध नग्न तन
अन्न वस्त्र पीड़ित अनपढ़ जन
झाड़ फूँस खर के घर आँगन
प्रणत शीश
तरुतल निवासिनी।

विश्व प्रगति से निपट अपरिचित
अर्ध सभ्य जीवन रुचि संस्कृत
रूढ़ि रीतियों से गति कुंठित
राहु ग्रसित
शरदेन्दु हासिनी।

पन्त

सदियों का खंडहर, निष्क्रिय मन
लक्ष्य हीन, जर्जर जन जीवन,
कैसे हो भू-रचना नूतन,
ज्ञान मूक
गीता प्रकाशिनी !

संगीत रस बिन शांति व्रत,
घुम घुम से पूत आंगन धीहत
कर हमें जन उद्यत जाग्रत ?
लोक मग्न
जीवन विकासिनी !

उस चाहिए लौह संगठन
सुन्दर तन मेधा दीपित मन
मन जीवन प्रति अथक समर्पण
लोक कलामयि
रस विलासिनी !

कहारों का रुद्र नृत्य

रंग रंग के चीरों से भर अंग चीरवासा-से
दैन्य शून्य में अप्रतिहत जीवन की अभिलाषा से
जटा जटा सिर पर, यौवन की श्मश्रु छटा आनन पर,
छोटी बड़ी तूंबियाँ रँग रँग की गुरियाँ सब तन पर,
हुलस नृत्य करते तुम अटपट धर पद पग उच्छृंखल
लालसा से समुच्छ्वसित मम मन का हिला धरातल।

फड़क रहे अवयव आवेश-विवश मुद्राएँ अंकित
प्रखर लालसा की ज्वालाओं सी अंगुलियाँ कंपित
अन्य देश के तुम अगाध जीवनोल्लास-से निर्भर
बर्हमार उद्दाम कामना के-से मुझे मनोहर।
एक हाथ में ताम्र डमरू धर, एक प्रिया की कटि पर,
नृत्य तरंगित रुद्र पूर-से तुम जन मन के सुखकर।

भाषा के उन्मत्त घोष से मादक स्वर से कंपित
जन इच्छा का गाढ़ चित्र कर हृदय पटल पर अंकित
खोल गए संसार नया तुम मेरे मन में क्षण भर,
जन संस्कृति का स्निग्ध स्फीत सौन्दर्य स्वप्न दिखला कर।
युग युग के सत्याभासों से पीड़ित मेरा अंतर
जन मानव गौरव पर विस्मित मैं भावी चिन्तन पर।

(१९३९)

तारों से

पूस निशा का प्रथम प्रहर खिड़की से बाहर
दूर क्षितिज तक स्तब्ध आम्र वन सोया क्षण भर
हिम का भ्रम होता पूनो मे धूम तरुओं पर
चाँदी मढ़ दी है भू को स्वप्नों से जड़ कर।
चारु चन्द्रिकातप से पुलकित निखिल धरातल
चमक रहा है ज्यों जल में बिम्बित जग उज्ज्वल।

गाढ़ दीपने खिड़की की जाली में विजड़ित
पत्रल सीधी आम–धूप मेंदूर से कंपित
धान्य की हाते के कभी बगिया के पथ
बाली चमत कुएँ की कुटिया की छाजन दरूथ
अस्ताचल का भाग मेहराबें, दरवाजे
उद्धृत गुम्बद जो चमक रहे चूने से ताजे!
की टेढ़ी-मेढ़ी क्षितिज रेखा के ऊपर
पास पास दो पेड़ ताड़ के खड़े मनोहर!

बायी खिड़की पर अगणित तारों से स्मित
हरित धरा के ऊपर नीलांबर छायांकित
कचपचिया (कृत्तिका) सामने शोभित सुन्दर
मानो के गुच्छ सी भरणी ज्यों त्रिकोण कर!
पास रोहिणी प्रिय मिलनातुर, बाँह गाल कर,
सेंदुर की बेंदी है जुड़वाँ को गोदी भर!
नम्र दृष्टि नूपुर समीर ही छोड़ रहा शर
मारि बाल री मृग पर मृगशिर शहन मनोहर!

उधर बड़े पुष्पराज मानो-से गुरु और मगन
साथ-साथ जिनमें अरुण गुरु सम उज्ज्वल।

हँसता है प्रत्यक्ष कठिन वृश्चिक का मिलना
वह सावन आर्द्रा कहता हिमकण का हिलना।
ज्योति फेन सी स्वर्णिमा नभ बीच तरंगित
परियों की माया सरसी सी छायाकोकिल
ज्वलित पुंज तारागण के बाष्पों से सस्मित
मौसम के नभ में रत्नप्रभ पुंज सी निर्मित!

खोज रहा हूँ कहाँ उदित सप्तर्षि गगन में
अरुन्धती को लिए साथ विस्मित से मन में।
प्रश्न चिह्न-से जो अनादि से नभ पर अंकित
उत्तर में स्थित ध्रुव की ओर किये फिर इंगित
पूछ रहे हों संसृति का रहस्य क्यों अविदित
क्या है वह ध्रुव सत्य? गहन नभ जिससे ज्योतित!

ज्योत्स्ना में विकसित शाद्वल भू पर अंबर
छामित ज्यों लावण्य स्वप्न अपलक नयनों पर।
यह प्रतिदिन का दृश्य नहीं छन से वातायन
आज खुल गया अप्सरियों के वश में मोहन।
फिर परिचित माया वश से बन पद अपरिचित
निश्चित वास्तविक जगत कल्पना से ज्यों चित्रित!
आज असुन्दरता कुरूपता जग से ओझल
सब कुछ सुन्दर ही सुंदर, उज्ज्वल ही उज्ज्वल!

एक शक्ति से कहते जग प्रपंच यह विकसित
एक ज्योति कर से समस्त जड़ चेतन सिंचित
सच है यह आलोक पाश में बँधे चराचर
पाश आदि कारण की ओर खींचते अंतर!

चौहत्तर

सूक्ष्म आत्मम्भर मूल भूत सब हुए समन्वित
पृथ तत्व से तात्विक सत्य है एक अखंडित,
मानव ही क्यों इस असीम समता से वंचित ?
ज्योति नीत युग युग से तमस विमुक्त, विभाजित ।

(११४०)

संस्कृति का प्रश्न

राजनीति का प्रश्न नहीं रे आज जगत के सम्मुख
अर्थ साम्य भी मिटा न सकता मानव-जीवन के दुख।
व्यर्थ सकल इतिहासों विज्ञानों का सागर मंथन
वहाँ नहीं युग लक्ष्मी जीवन सुधा इन्दु जन मोहन।
आज बृहत् सांस्कृतिक समस्या जग के निकट उपस्थित
खंड मनुजता को युग युग की होना है नव निर्मित
विविध जाति वर्गों धर्मों को होना सहज समन्वित
मध्य युगों की नैतिकता को मानवता में विकसित।

जग जीवन के अन्तर्मुख नियमों से स्वयं प्रवर्तित
मानव का अवचेतन मन हो गया आज परिवर्तित
बाह्य चेतनाओं में उसके क्षोभ क्रांति उत्पीड़न
विगत सभ्यता कंठ-शून्य ध्वनि सी करती युग गर्जन।
व्यर्थ आज राष्ट्रों का विग्रह औ तोपों का गर्जन
रोक न सकते जीवन की गति शत विनाश आयोजन।
नव प्रकाश में तमस युगों का होगा स्वयं निमज्जित
प्रतिक्रियाएँ विगत युगों की होंगी शनैः पराजित।

|

विज्ञान ज्ञान बहु सुलभ, सुलभ बहु नीति धर्म
संचय कर सकें धन, इच्छा अनुरूप कर्म!
लालसा मन पर विजय पा सके चेतन मन
मानव को दो यह शक्ति पूर्ण जग के कारण!
मनुजों की लघु चेतना मिटे, लघु अहंकार,
नव युग के गुण से विगत युगों का अंधकार
हो ध्वंस जाति विद्वेष वर्ण गत रक्त समर,
हो ध्वंस युगों के प्रेत मुक्त मानव अन्तर!
संस्कृत हों सब जन स्नेही हों सहृदय सुन्दर,
संयुक्त कर्म पर विश्व एकता हो निर्भर
राष्ट्रों से राष्ट्र मिलें देशों से देश आज
मानव से मानव, हो जीवन का निर्माण काज!
हो अर्पित जनों को जगत स्वर्ग जीवन का घर,
नव मानव को दो प्रभु! भव मानवता का वर!

सम्मोहन

जादू बिछा दिया जग भू पर!
तुमने सोने की किरणों की
जीवन हरियाली में बो कर!
फूलों से रंग फूल रंगों से
निखर सूक्ष्म रँग उर के भीतर
बुनते स्वप्न मधुर सम्मोहन
स्वर्ण रुधिर से अंतर भर भर!
स्पंदित श्वास हृदय रज कण में
माया बनी द्रुमों की मर्मर,
लहरें उर पर लेटीं सौरभ
कमल मुखों से जीवित-से सर
प्रणय दृष्टि दी मुग्ध मृगों को
प्राणों में संगीत दिया भर,
स्वर्ण कामना का नव घूँघट
डाल धरा के मुख पर सुंदर!
निज जीवन का द्वन्द्व संघर्षण
भूल गया अब मानव अंतर
जग जीवन के नव स्वप्नों की
ज्योति वृष्टि में अमर स्नान कर!
स्वर्ण पाश में तुमने जीवन
लिपटा लिया हृदय में हँसकर,
मर्म प्रीति का झरना अविरल
इन प्राणों में स्वर्णिम निर्झर!
स्वर्ग धरा को बाँध पाश में
स्वर्ण चेतना के फिर सुलझकर
स्वप्नों को तुमने जीवन की
देही दे दी मर्त्य शोक हर!

मानदंड भू के अखंड हे,
पुण्य धरा के स्वर्गारोहण
प्रिय हिमाद्रि तुमको हिमकण-से
घेरे मेरे जीवन के क्षण!
मुझ अंचलवासी को तुमने
शैशव में आदी थी पावन
नभ में नयनों को जो तब से
स्वप्नों का अभिलाषी जीवन!

तब से धन्यों के शिखरों में
तुम्हें चाहता करना चित्रित
ध्यान शांति में समाधिस्थ हे
पावन सुंदरता के भूभृत!
धन्य चेतना मेरी तुम में
अभिभूत आनंद तरंगित
तुम्हें देख सौन्दर्य साधना
आश्चर्य से मेरी विस्मित!

जिन शिखरों को स्वर्ण किरण नित
ज्योति मुकुट से करती मंडित
जिन पर सहसा स्तम्भित तड़ित्
हो उठती निज आलोक से चकित!
जिन शिखरों पर रजत पूर्णिमा
सिंधु ज्वार सी लगती स्तंभित
जिनकी नीरवता में मेरे
गीत स्वप्न रहते थे संचित!

जा

जिनकी शीतल ज्वाला में बस
बनी चेतना मेरी निर्मल,
प्राण हुए आलोकित जिनके
स्वर्णोभित सौन्दर्य से सबल!
हृदय चाहता काम्य कल्पना को
किरीट पहनाना उज्ज्वल
स्मृति में ज्योति तरंगित स्वप्निल
स्वर्गों के आलोक का तरल!

मनुजा की महत्वाकांक्षा-से
स्वर्ण शिखर से भी उठ ऊपर
अंतर आलोकित-से स्थित तुम
अमरों का उल्लास पान कर!
उरोभार से गौर धरणि के
शोभा स्वर्ण शीश धर जिस पर,
तुम भारत के शाश्वत गौरव
प्रहरी से जागरित निरंतर!

रवि की किरणें जिसे स्पर्श कर
हो उठतीं आलोक निनादित
जिस पर ऊषा संध्या की छवि
आदि सृष्टि सी ही स्वप्नांकित
इन्दु ज्वलित तुम स्फटिक धवलिमा
के क्षीरोदधि से हिल्लोलित
ज्योत्स्ना में वे स्वप्न मौन
अप्सरा लोक से लगते मोहित!
मस्ती

सुरँग प्रवालों की रत्नमयी
महरुह रहती जहाँ मर्मरित
देवदारु की चारु सुधि से
मरकत तलहटियाँ रोमांचित
नील स्वर्ग मुख पर अंकित तुम
शुचि विमल स्मिति से चिर शोभित
आदि तत्व-से अपनी ही शोभा
विलोक रहते अनिमेषित!

नीली छायाएँ थीं उन पर
लगतीं आभा की-सी सिकुड़न
इंद्रधनुष मंडल से दीपित
लगते थे शत हँसमुख हिमकण!
खद्योतों के पंखों से स्मित
तड़ित् चकित हिम के रोमिल घन
रंगों से वेष्टित रखते थे
तुमको हे आलोक निरंजन!

प्रति बसन्त आती थी मधुऋतु
मधु स्फुट वेणी से कुसुमित
और रश्मियों को पुष्पों में
अंगों पर निज कर शत रंजित!
गुम्फी पंखड़ियों की मधुर
सौरभ श्वासों से थी सुगन्धित
मेरे शैशव को नित उसकी
गोद कोकिला रखती कूजित!

कृष्णस्वामी

कलरव स्वप्नातप सुरधनु पट
शशि मुख हिम स्मिति गात के श्वसित
पवमानु करती थी परिक्रमा
अप्सरियों सी सुरपति प्रेषित!
शरद चंद्रिका हो जाती थी
स्वप्नों के शृंगों पर विगलित
हिम की परियों का अंचल उड़
भू को कर देता था परिवृत!

रंग रंग के चित्रित पक्षी
उड़ते नभ में नीड़ तरंगित
नील पीत शृंगों का चुंबन
मौन क्षणों को रचता मुखरित
ऊष्मा का सूर्यातप शुभ में
रचता शीतलता सा मूर्छित
इंद्रचाप शुभ पर, वर्षा में
सुरबालाएँ आ जातीं नित!

जग अज्ञात गुहाओं में नव
बाष्पों के घन करते गर्जन
चंचल विद्युत् रेखाएँ भी
लिपट शृंगों से जातीं तत्क्षण
तारकों के साथ सहज
शैशव स्वप्नों से भर जाता मन
उठते के शुभ अंतर में
सौन्दर्य स्वप्न शृंगों पर मोहन!

बयासी

मेघों की छाया के सँग-सँग
हरित घाटियाँ चलतीं प्रतिक्षण
वन के भीतर उड़ता चंचल
चित्र तितलियों का कुसुमित वन!
रँग-रँग के उपलों पर रलमल
उच्छल उत्स करते कल गायन
झरनों के स्वर जग-से जाते
रजत हिमानी शृंगों में घन!

भीम विशाल शिलाओं का यह
मौन हृदय में अब तक अंकित
फेनों के जल स्तंभों-से वे
निर्झर रभस वेग से मुखरित
चीड़ों के तरु वन का तम
मर्मर भरता मन में भावोत्थित
दरियों की गहरी छायाएँ
ज्योतिर्किरणों से भी गुम्फित!

गाते उर में हिम स्रोत
लहराते सर तुषार से निर्मल
सौरभ की गुंजित झल्का से
छू समीर उर करता शीतल
नीली पीली हरी लाल
आभाओं का मन जगता चपल
रजत कुहासे में क्षण में
सारा अंतर हो जाता कोमल!

तिरपी

संभव पूरा तुम्हारी होगी
किन्नर मिथुनों से हों कूजित
छाया निभृत गुहाएँ उन्मद
रवि सौरभ से सतत उच्छ्वसित
औषधियाँ जब जल दरियों के
स्वप्न कक्ष करतीं हों दीपित
लोगों के मन में खिलते हों
स्नान हारों के मुक्ताफल स्मित!

मदन दहन की भस्म अजिर में
रज बन तब तक तन करती पुलकित
सती अपर्णा के तप से
बनती अवाक सी रमाती विस्मित
अब भी ऊषा यहाँ दीखती
वधू उमा के मुख-सी लज्जित
बढ़ती चंद्र कला भी गिरिजा सी
हो गिरि के क्रोड़ में वर्धित!

अब भी यहीं वसंत बिखरता
पुष्प धरों से भर हिमेत स्मित
गंधोद्दाम भरा यह ही पाषाण
खिलाएँ पुलक पल्लवित!
अब भी प्रिय पीरा का सौरभ
वर्णन करते जब पिक मुखरित
देवदारु के ऊर्ध्व शिखर
बैठे ही शंकर-से समाधि स्थित!

चाँदनी

अभी उतरता पूर्व सानु पर
अब बीड़ा परिमित गत पथ
आतापम से मंद स्खलित कर
देता कवि सचित्र आर्द्र स्वन!
अब भी अलकें उठा हरती
ग्राम वधू उसको उरम नयन
शुभ्र बलाकों के दल नभ म
कल ध्वनि भर करते अभिवादन!

आज पीवमोदपि के तट पर
गड़ा अर्वाचिन शुम्प उपक्षित
देख रहा मैं शुद्र अहम् भी
गिरकर लहरियों का रूप कुत्सित
माप रहा जिसके गौरव से
मेरा यह अंतर जग निर्मित
ममता तब है प्रिय हिमाद्रि
तुम मेरे शिखर रहे अपरिचित!

और, पूछता मैं मन से क्या
यह धरती यह धरती जीवित
जो तुम स्वर्गिक गरिमा भू पर
बरसाते रहते न अपरिमित?
गिरकर गिरकर ऊपर उठ तुमने
मानव आत्मा कर दी ज्योतित
है असीम आत्मानुभूति में
लीन ज्योति शृंगों के भूषण!

पथारी

घनीभूत अध्यात्म तत्त्व-से
जिससे ज्योति सरित शत निःसृत
प्राणों की हरियाली से स्मित
पृथ्वी तुमसे महिमा मंडित
स्फटिक सौध-से भी शोभा में
रश्मि रेख शृंगों से कल्पित
स्वर्ग खंड तुम इस वसुधा पर,
पुण्य तीर्थ हो, देव प्रतिष्ठित!
(१९४९)

द्वा सुपर्णा

दो पक्षी हैं सहज सखा संयुक्त निरंतर,
दोनों ही बैठे अनादि से उसी वृक्ष पर!
एक ले रहा पिप्पल फल का स्वाद प्रतिक्षण
बिना अशन दूसरा देखता अंतर्लोचन!
दो सुपर्ण-से मर्त्य अमर्त्य संयोजित होकर
भोगेच्छा से प्रेरित भटकते नीचे ऊपर
सदा साथ रह, लोक लोक में करते विचरण
ज्ञात मर्त्य सबको अज्ञात अमर्त्य चिरंतन!

कहीं नहीं क्या पक्षी जो चखता जीवन फल
विश्व वृक्ष पर बैठ देखता भी है निश्चल
परम महत् भी द्रष्टा भोक्ता जिसमें संग संग
पंखों में बहिरंतर के सब रजत स्वर्ण रँग!
ऐसा पक्षी जिसमें हो संपूर्ण संतुलन
मानव बन सकता है निर्मित कर नव जीवन!
मानवीय संस्कृति रच भू पर शाश्वत शोभन
बहिरंतर जीवन विकास की जीवित दर्पण
भीतर बाहर एक मुग्ध मैं ऐ सुपर्ण द्वय
(११४५) जीवन सफल उड़ान पक्ष संतुलन जो विजय!

ज्योति भारत

ज्योति भूमि
जय भारत देश!
ज्योति चरण धर जहाँ सभ्यता
उतरी तेजोन्मेष!

समाधिस्थ सौन्दर्य हिमालय
श्वेत शांति आत्मानुभूति लय
गंगा यमुना जल ज्योतिर्मय
हँसता जहाँ अशेष!

फूटे जहाँ ज्योति के निर्झर
ज्ञान भक्ति गीता वंशी स्वर,
पूर्ण काम जिस चेतन रज पर
लोटे हँस लोकेश!

रक्त स्नात मूर्छित धरती पर
बरसा अमृत ज्योति स्वर्णिम कर,
दिव्य चेतना का प्लावन भर
दो जग को आदेश!

(१९४९)

छाया पट

मन जलता है
अंधकार का तम जलता है
मन जलता है!
मेरा मन तन बन जाता है,
तन का मन फिर कट कट कर
फें
कर
मन बन ऊपर
उठ पाता है!
मेरा मन तन बन जाता है।

तन के मन के श्रवण नयन हैं,
जीवन से संबंध गहन है
कुछ पहचाने कुछ पावन हैं
जो सुख दुख के स्पन्दन हैं!
जब यह उड़ जग में छा जाता
जीवन की रज लिपटा लाता
फिर मेरे चेतना गगन में
इन्द्रधनुष बन बन मुसकाता!
नहीं जानता कब कैसे फिर
यह प्रकाश किरणें बरसाता!
बाहर भीतर ऊपर नीचे
मेरा मन जाता आता है
सब व्याप्ति बनता जाता है!

तन के मन में नहीं असंगति
आत्मा का मन है चिर ज्योतित

भवानी

इन छाया दृश्यों को जो
निज माया से कर देता जीवित
यह आह्वान प्रयाण मुझे
आगे कैसे क्या सिखलाता है!
क्या है श्रेय? कौन जाता है!
मन भीतर बाहर जाता है!

मन चलता है
मन में तन में रण चलता है,
चेतन अवचेतन नित नव
परिवर्तन में ढलता है!
मन चलता है!

(१९४५)

सविता

लो सविता आता सहस्रकर,
सविता उज्ज्वल व्योम पृष्ठ पर,
भव्य रश्मियों से ज्योतिर्मय
अंतरिक्ष को आलोकित कर!
सप्त अश्व से सप्त लोक कर
पार, वेग में दिव्य तेज भर
वह महेन्द्र आ रहा गिरा निज
किरणों से त्रिभुवन का तम हर!

उठो मनुष्यो जागो करो
उषाओं का दिव में अभिवादन
आर्य उन्होंने स्तोत्र किया
सविता का जो ज्योतिर्मय पूषण!
अंधकार हट गया प्राणमय
नव जीवन हो रहा प्रवाहित
वह महेन्द्र आ रहा रश्मियों से
अमृत प्रकाश से आवृत!

अंतरिक्ष पर चलने वाले
आज पा गए हैं अभिनव पथ
नव प्रकाश का सूर्य उन्हें
मिल गया दमकता सप्त अश्व रथ!
स्वर्ग ओर नित धावमान उस
दिव्य हंस के पंख ज्योतिर्मय
फैले हुए सहस्र दिशा में
बढ़ता ही जाता वह निर्भय

श्यामदेव

सब भुवनों को देखता हुआ,
देवों को ले हृदय में सकल
व्याप्त सर्व लोकों में वह
फैले अपार पंखों में विक्षिपक्ष!
हाउ हाउ वह स्वर्ण पुरुष
वह ज्योति पुरुष मैं हूँ अजर अमर,
भरते सप्त धार सोने के
सतत मातरिश्वा से निर्झर।

(१९४५)

वन्दे मातरम् !
जन भरणी जग भरणी
रस प्रसविनी मातरम् !
मृदु हरित पिक कूजित यौवन
अनिल तरंगित उदधि जल बसन
छत्र सूर्य शशि दीप्त मत ममन
प्रममाकांक्षी स्वर्ग चिरतम
वन्दे मातरम् !

बजे शांति धुरी जग मारुम
कुसुम कुसुम हो जय दुंदुभि स्वन
जीवन हित मानव करे मरण
मृत्यु अंक में भी पाएँ जन
वन्दे मातरम् !

मृ मन के टूटें जड़ बंधन
रूढ़ि रीति से मुक्त बनें मन
दैन्य दुरित के हटें तमस घन
स्वर्ग प्रभात उदित हों प्रांगण
वन्दे मातरम् !

शिक्षा मोहन्धन से हों दूषित
काम शिल्प रचना में योजित
भव संस्कृति में दैन्य हों प्रमित
जन संगम जगत मनुयोजित
वन्दे मातरम् !

सामंजस्य

भाव सत्य बोली मुख मटका
तुम—मैं की सीमा है बन्धन
मुझे सुहाता बादल-सा नभ में
मिल जाना भी अपनापन।
ये पार्थिव संकीर्ण हृदय हैं
मोल तोल ही इनका जीवन
नहीं देखते एक धरा है
एक गगन है, एक सभी जन।

बाकी वस्तु सत्य मुँह बिचका
मुझे नहीं भाता यह दर्शन
भिन्न देह हैं यहाँ भिन्न रुचि
भिन्न स्वभाव भिन्न सबके मन।
नहीं एक में भरे सभी गुण
इस जगत में हैं नारी नर
स्नेही द्रोही मूर्ख चतुर हैं
दीन धनी कुत्सित भी सुन्दर।

आत्म सत्य बोली मुसका कर,
मुझे ज्ञात दोनों का कारण
मैं बातों को नहीं भूलती
दोनों का करती संचालन।
पथ जान सपने उड़ जाते
सत्य न बढ़ पाता गिन गिन पग
सामंजस्य न यदि दोनों में
रचती मैं क्या बस सकता जग।

चौगनबे

(१९४६)

पतिता

रोना हाय मार कर मानव
एक पड़ोसी जो चिर परिचित
क्रूर मुन्ने, हत्यारे—कर गए
बहू को नीच कलंकित!
फूटा करम! करम भी फूटा!
सीस हिला रोते सब परिजन
हा अभागिनी हा कलंकिनी
सिमट रहे गा-गा कर पुरजन!

सिसक रही सहमी कोने में
अबला साँसों की-सी ढेरी
घेर रहीं घेरे पड़ोसिनें
और कुरसी पर की बेरी!
इतने में घर आया केशव—
हा बेटा कर दारुण रोदन
माथा लगे पीट कुटुम्बी
छिन्न लता सा काँप उठा तन!

सब सुन चुका! चीखता केशव
बन्द करो यह रोना धोना
उठो मालती सीख जायगा
तुमको घर का काला कोना!
मन में होते मनुज कलंकित
रज की देह सदा से कलपित
मम पवित्र पावन है तुमको
रहने दूँगा मैं न कलंकित!

पंचायतें

आज़ाद

पैगंबर के एक शिष्य ने
पूछा हज़रत बन्दे को हक़
है आज़ाद कहाँ तक इंसाँ
दुनिया में पाबंद कहाँ तक!
खड़े रहो! बोले रसूल तब
अच्छा पैर उठाओ ऊपर!
जैसा हुक्म! मुरीद सामने
खड़ा हो गया एक पैर पर!

ठीक दूसरा पैर उठाओ
बोले हँस कर नबी फिर तुरत
बार बार गिर, कहा शिष्य ने
यह तो नामुमकिन है हज़रत!
हो आज़ाद यहाँ तक कहता
तुमसे एक पैर उठ ऊपर
बँधे हुए दुनिया से कहता
पैर दूसरा खड़ा ज़मीं पर—
पैगंबर का था यह उत्तर!

(१९४५)

स्वप्न-बंधन

बाँध लिया तुमने प्राणों को फूलों के बंधन में
एक मधुर जीवित आभा सी लिपट गई तुम मन में !
बाँध लिया तुमने मुझको स्वप्नों के आलिंगन में !
तन की सौ शोभाएँ सम्मुख चलती फिरती लगती
सौ सौ रंगों से भावों में तुम्हें कल्पना रँगती
मानसि तुम सौ बार एक ही क्षण में मन में जगती !

तुम्हें स्मरण कर जी उठते यदि स्वप्न आँक उर में छवि
तो आश्चर्य प्राण बन जाएँ गान ! हृदय प्रणयी कवि !
तुम्हें देख कर स्निग्ध चाँदनी सी जो बरसावे रवि !
तुम सौरभ सी सहज मधुर बरबस बस जाती मन में
पतझर में लाती वसन्त रस स्रोत विरस जीवन में
तुम प्राणों में प्रणय गीत बन जाती उर कंपन में !

तुम देही हो ? दीपक लौ सी दुबली कनक छबीली
मौन मधुरिमा भरी लाज ही सी साकार लजीली
तुम नारी हो ? स्वप्न कल्पना सी सुकुमार सजीली !
तुम्हें देख कर शोभा ही ज्यों लहरी सी उठ आई
अंग भंगिमा तनिमा बन मृदु देही बीच समाई
मांसलता कोमल अंगों में पहिले तन पर पाई !

फूल खिल उठे तुम हँसी ही भू को दी निखराई
मुसकाती वसुधा पर खिल सौ सौ रंगों में छाई
छाया सी ज्योत्स्ना मधुपी प्रतिछवि सी उर समाई !

तुम में जो लावण्य मधुरिमा जो असीम सम्मोहन
तुम पर प्राण निछावर करने पागल हो उठता मन
नहीं जानती क्या तुम निज बल निज अपार आकर्षण !
बाँध लिया तुमने प्राणों को प्रथम स्वप्न बन्धन में
तुम जानो क्या तुमको भाया मर्म छिपा क्या मन में !
इन्द्रधनुष बन कर हँसती तुम मधु मास के घन में !

(१९४१)

नवीन स्वप्नों,
हे स्वप्न न,
भारत आज!
स्वर्ण स्वप्न हैं
रूप सत्य!
स्वप्न हैं सत्य!

स्वर्ण-युग

फैल रहा है शुभ्र चाँदनी का सा निर्झर
स्वर्ण युग अवतरित हो रहा जन धरणी पर!
सिक्त युगों के तोरण गुंबज मीनारों पर
नव प्रकाश शोभा रेखाओं का जादू भर!
संजीवन पा जाग उठा हो राष्ट्र का मरण
आत्माएँ-सी आज चल रहीं भू पर चेतन—
जन मन में जय दीप शिखा के पग धर नूतन
गांधी के नव स्वप्न धरा पर करते विचरण!

सत्य अहिंसा बन अन्तर्राष्ट्रीय जागरण
मानवीय स्पर्शों से भरते धरती के व्रण!
मुक्त तड़ित् अणु के अश्वों को कर आरोहण
नव मानवता करती गांधी का जय घोषण!
मानव के अन्तरतम शुभ्र तुषार के शिखर
नव्य चेतना मंडित स्वर्णिम उठे अब निखर!

(१९४८)

भारत गीत

जय जन भारत जन मन अभिमत
जन गण तंत्र विधाता!
गौरव भाल हिमालय उज्ज्वल
हृदय हार गंगाजल
कटि विन्ध्याचल सिन्धु चरण तल
महिमा शाश्वत गाता!
हरे खेत लहरे नद निर्झर
जीवन शोभा उर्वर,
विश्व कर्म रत कोटि बाहु कर
अगणित पद ध्रुव पथ पर!
प्रथम सभ्यता ज्ञाता साम ध्वनित गुण गाता
जय नव मानवता निर्माता
सत्य अहिंसा दाता!
जय हे जय हे जय हे, शान्ति अधिष्ठाता!
प्रयाण तूर्य बज उठे
पटह तुमुल गरज उठे,
विशाल सत्य सैन्य लौह भुज उठे!
शक्ति स्वरूपिणि बहु बल धारिणि वंदित भारत माता
धर्म चक्र रक्षित तिरंग ध्वज अपराजित फहराता!
जय हे जय हे जय हे अभय अजय माता!

(१९४०)

विहग

मैं नव मानवता का संदेश सुनाता
स्वाधीन लोक की गौरव गाथा गाता
मैं मनःक्षितिज के पार मौन शाश्वत की
प्रज्वलित भूमि का ज्योतिवाह बन आता।
भू के खँडहर पर डाल सुनहली छाया
मैं नव प्रभात के नभ में उठ मुसकाता
जीवन पतझर में जन मन की डालों पर
मैं नव मधु के ज्वाला-पल्लव सुलगाता।

भावों से उद्वेलित जन सागर में
नव स्वप्नों के शिखरों का ज्वार उठाता
जब तिमिर भीम भव-रोदन करता भू मन
धूम सिक्त बन प्राणों का पावक बरसाता।
मिट्टी के पैरों से भव-कम्पित जनों को
स्वप्नों के चरणों पर चलना सिखलाता!
तारों की छाया में कल्पित अंबर को
उन्मुक्त प्रकृति का शोभा बना दिखाता!

जीवन मन के भेदों में खोई मति का
मैं आत्म एकता में मनिमय बनाता
तम पशु बहिर्मुख पथ से बिखरे मन को
मैं अम्बर सोपानों पर ऊर्ध्व चढ़ाता!
शास्त्रों के मद जल से दग्ध मृगों को
मैं स्वर्गंगा स्मित अंतर्पथ बतलाता
पग जग को नव मानवता में जाग्रत कर
मैं मुक्त कंठ जीवन रण शंख बजाता!

एफ सी एफ

मैं गीत विहग निज मर्त्य नीड़ से उड़ कर
चेतना गगन में मन के पर फैलाता
मैं अपने अंतर का प्रकाश बरसा कर
जीवन के तम को स्वर्णिम कर नहलाता।
मैं स्वप्नों को बाँध मनोभावों में
जन जीवन का नित उनको अंग बनाता
मैं मानव प्रेमी नव भू स्वर्ग बसा कर
जन धरणी पर देवों का विभव लुटाता।

मैं जन्म मरण के द्वारों से बाहर कर
मानव को उसका अमरासन दे जाता
मैं विश्व चेतना का संदेश सुनाता
स्वाधीन भूमि का स्वर्ग जागरण गाता।

(१९४९)

निर्माण-काल

जो आज झरोखों से उड़ कर
फिर देवदूत आते भीतर,
सुरधनुओं के स्मित पंख खोल
नव स्वप्न उतरते जन भू पर।

रंग रंग के छाया पंखों सी
आभा पंखड़ियाँ पड़ती झर
फिर मनोलहरियों पर तिरती
विस्मित सुर अप्सरियाँ निःस्वर।

यह रे भू का निर्माण काल
हँसता नव जीवन अरुणोदय
ले रही जन्म नव मानवता
अब सर्व मनुजता होती सम।

धू धू कर जलता जीर्ण जगत
लिपटा ज्वाला में जग अंतर,
तम के पर्वत पर टूट रही
विद्युत् प्रपात-सी ज्योति प्रखर।

संघर्षण पर बहु संघर्षण
यह हिंसक भौतिक भू कंपन
उद्वेलित जन मन का समुद्र
युग रक्त सिंधु करता गर्जन।

ढह ढह ध्वंस विश्राम भ्रंश
युग बदल रहा यह बहुत महत्

फिर शिखर चिरंतन रहे निखर
यह विश्व संचरण रे नूतन!

घन रहे घंटियों से ठनठन
छवि ज्वाल पल्लवित जग जीवन
नव ज्योति धारण कर रहा सृजन
फिर पुष्प वृष्टि करते सुरगण!

नव स्वर्ग द्रवित रे अंतर्तम
झरते नीरव शोभा निर्झर
अवतरित हो रही सूक्ष्म शक्ति
फिर मौन गुंजरित उर अंबर!

बँधता प्रकाश तम बाँहों में
सुर मानव तन करते धारण
फिर लोक चेतना रंगभूमि
भू स्वर्ग कर रहा परिरंभण?

(१९४९)

युग-दान

जीवन बाँहों में बाँध सकूँ
सौन्दर्य तुम्हारा नित नूतन
जन मन में मैं भर सकूँ अमर
संगीत तुम्हारा सुर मादन!

आनंद तुम्हारा बरस सके
जग व्यथा क्लांत उरके भीतर,
जग जीवन का बन सके अंग
वैभव तुम्हारा लोकोत्तर!

करुणा धारा से मानव का
भू निर्मम अंतर हो उर्वर,
संयुक्त कर्म जग जीवन के
तुमको अर्पित हों उठ ऊपर!

जब मनुष्यत्व से मनोमुक्त
देवत्व रहा रे शनै निखर,
भू मन का कोमल स्पृहा स्वर्ग
फिर विचरण करने को भू पर!

यह अंधकार का घोर प्रहर
हो रहा हृदय चेतना प्रथित
फिर मानवीय बन जाग रहीं
जड़ भूत शक्तियाँ अभिशापित!

तरुओं के सिर पर पुष्प मुकुट
ज्यों गंध पवन-उर में मादन
जीवन से मन से फूट रहे
तुम नव भी शोभा में चेतन!

(१९४९)

नमन

नमन तुम्हें करता मन!
हे जग के जीवन के जीवन
प्रीति-नीत प्रति उर स्पन्दन में
स्मरण तुम्हें करता मन!

प्रभु सजल नत मेरा आनन
तुहिन तरल वारिज के लोचन
मधु मानस स्थिति स्मृति से पावन
करता तुम्हें समर्पण!

तुम अंतर के पथ से आओ
चिर श्रद्धा के रथ से आओ
यौवन अरुणोदय संग लाओ
नव प्रभात युग नूतन!

बहे रुधिर में स्वर्गिक पावक
स्वप्न पंख लोचन हों अपलक
रँग दे श्री शोभा का जावक
जीवन के पग प्रतिक्षण!

आज व्यक्ति के उतरो भीतर
निखिल विश्व में बिखरो बाहर,
कम बंधन मन मन के उठ कर
बनें मुक्त आराधन!

मनस्तम हो जब भीत मनोभव
आवेगों से अंतर विह्वल
तुम करुणा-कर से छू उज्ज्वल
श्रद्धा कर दो चेतन!

(१९४९)

जिज्ञासा

कौन स्रोत ये!
ये किन आकाशों में खोए
किन आषाढ़ शिखरों से झरते
किन अज्ञात समतल प्रदेश में
रजत फेन मुक्ता रव भरते!
ये किन स्वच्छ अतलताओं की
पीन नीलिमाओं में बहते
किन सुख के स्पर्शों से स्वर्णिम
हिल्लोरों में कंपित रहते।

कौन स्रोत ये!
किरणों के वृन्तों पर खिलते
भावों के सतरंग स्वप्न लस
मनोमर्मियों पर बिम्बित कर
रक्त पीत सित नील ज्योति रस!
मर्महीन गौरव में मज्जित
हो उठता उच्छ्वसित निखिल मन
राग गुंजरण में लय होता
तल्लीन तन्मय अंतस्तल!

कौन गान ये!
श्रद्धा की शिखाम गहन
राज मरालों से ये जाग
खिले मानिक उर मर्मों में
शुभ्र सुनहली ग्रीवा मोड़े!

एक सौ गान

सीमा की स्वर्गिक उड़ान से
भर जाता सहसा अपलक मन
बजते मन छंदों के नूपुर
अलिखित गीतों के प्रिय पद बन!
बह जाते सीमाओं के तट
कूलों के ज्वारों में अविरत
लहरा उठता अतल नील से
नाम रूप के ऊपर शाश्वत!
कौन मौन थे।

(१९५१)

शांति और क्रांति

शांति चाहिए शांति! रक्त अवकाश चाहिए
मानव को, मानस वह महत् प्रकाश चाहिए
कम्पा वह हाँ मन, अतल आवास चाहिए
रही भी वह —आज मुक्त वेदी वह, जग—
मनोविलासी—आत्मा बनना है अब उसको!

हाय अभागा, बुरी तरह से उलझ गया वह
बाहर के जग-जाल में बाहर के जीवन के—
जहाँ भयानक अंधकार छाया युगांत का!
मानव के भीतर का जग, भीतर का जीवन
आज खोखला सूना जीवन-मृत छाया सा—
गत संस्कारों से चालित प्रेतों से पीड़ित!
खाई खंदक में खोहों में बीहड़ मग में
भटक गए जन के पग संकट की वेदी में!
दल दल में फँस गया मत्त सीमित युग गज सा
अपनी ही गरिमा के दुःसह बोझ से दबा!
जीवन तृष्णा चक्की के पाटों सी उसके
घायल पैरों से है लिपट गई कड़ी बन!
पुष्ट, निरंकुश उच्छृंखल मद आज शीश के
स्वर्णांकुश के प्रति असहिष्णु अहंता गर्वित!
सोच रहा मैं—नहीं स्पष्ट देख रहा मैं
महत् युगांतर आज उपस्थित मनुज द्वार पर!—
बदल रहे मानव के सीमित पार्थिव मानस
सूक्ष्म मानसिक स्तर, आध्यात्मिक भुवन अगोचर!
जन्म रहा निर्मम मानव ईश्वर भी अब—
युग युग से जो परिचालित करता आता नित

मानव मन को लोक नियति को जीवन मन को!
बौनी स्थिति से उच्च मानवत स्थिति तक सम्प्रति
घूम रहा युग परिवर्तन का चक्र अकुण्ठित!
आज घोर जन कोलाहल के भीतर भी मैं
सुनता हूँ स्वर शब्द हीन संगीत अलक्षित—
मन के श्रवणों में जो गूँजा करता अविरत!
इस अणु उद्गम के विनाश के दारुण युग में
सृजन निरत हैं सूक्ष्म सूक्ष्मतर अमर शक्तियाँ
मानव के अंतरतम में—जिनका स्पर्शों का
अक्षय वैभव अतिक्रम कर युग के यथार्थ को
अकल्पित शोभा भुवनों में पल्लवित हो रहा
मानव की अपलक आँखों के सम्मुख प्रतिक्षण!
सूक्ष्म सृजन चल रहा नाश के स्थूल चरण धर!

कवि कपोल कल्पना नहीं—अनुभूत सत्य यह
बोध भ्रांतियों के युग का निर्भ्रांत सत्य यह,
आरोहण कर रही मनुज चेतना निरंतर
शिखरों से नव शिखरों पर अब उठती गिरती
संघर्षण करती कराहती—चिर अपराजित!
इसीलिए, मैं शांति क्रांति-संहार सृजन को
विजय पराजय प्रेम घृणा उत्थान पतन को
आशा कुंठा को युग के सुन्दर कुरूप को
बाँहों में हूँ आज समेटे—ज्यों परस्पर
पूरक एक अभिन्न मान कर,—युग विवर्त के
मंथन चीत्कारों में ध्यानावस्थित रह कर!
विस्मय क्या यदि बदल रहा आर्थिक सामाजिक
धार्मिक वैयक्तिक मानव? यदि मनुज चेतना

अब सामूहिक वर्ग हीन बन रही मानवता,
बिखर रहे यदि विगत युगों के मन संगठन?—
क्या आश्चर्य बदलता यदि आमूल मनुज जग!
स्वयं युगों का मानव ईश्वर बदल रहा अब
निरपेक्षतम उच्चतम अंतश्चेतन के पग
परिवर्तित हो रहे नए मूल्यों में विकसित!
उन पर आश्रित निखिल सांस्कृतिक सम्पदाओं का
रूपांतर हो रहा आज—आदर्श शिखर से
पुन पुन जो पर्योषित हो रहे धरा पर!
विगत विवेका रूढ़ि धारणाओं को सहसा
छिन्न भिन्न कर अपने प्रलयंकर प्रवेग में—
विस्मृत कर जीवन पथ निःसृत प्राणों का रथ!
नैतिक आध्यात्मिक अतीत अतिक्रमण कर रहा—
बिखर रहे आदर्श लोक, गौरव स्तम्भ सब!
आज नया मानव ईश्वर अवतरित हो रहा
स्वर्ण रश्मियों से स्मित ऊषाओं के रथ पर
तड़ित् स्फुरित शिखाओं से फिसले पवन सा
अनागत युग वीणाओं के मधुर निर्झर सा
उन्मद भृंगों से गुंजित नव कुसुमाकर सा!

अपने राग मौनतर आज बाहर जग पतझर
मुकुल रहा भीतर नव मधु का स्वर्णिक पावक!
आत्मा के गहनतम अंतर में प्रवेश कर
मानव मन हो अधिक पूर्ण युग रहा बहिर्मुख!
आज काल के पार पड़ रहे सकल मानव को
नव दीप्ति वह विकसित इन्द्रिय अति इन्द्रिय अब!
बदल रहा अब मानव ईश्वर—बदल रहा अब
मानव अंतर, मानवता का रूपांतर कर!

(१९५९)

यह धरती कितना देती है

मैंने छुटपन में छिपकर पैसे बोए थे
सोचा था पैसों के प्यारे पेड़ उगेंगे
रुपयों की कलदार मधुर फसलें खनकेंगी
और, फूल फल कर, मैं मोटा सेठ बनूँगा!
पर, बंजर धरती में एक न अंकुर फूटा
बंध्या मिट्टी ने न एक भी पैसा उगला—
सपने जाने कहाँ मिटे, कब धूल हो गए!
मैं हताश हो बाट जोहता रहा दिनों तक
बाल कल्पना के अपलक पाँवड़े बिछा कर!
मैं अबोध था मैंने गलत बीज बोए थे
ममता को रोपा था तृष्णा को सींचा था!

अर्धशती हहराती निकल गई है तब से!
कितने ही मधु पतझर बीत गए अनजाने
ग्रीष्म तपे वर्षा झूली शरदें मुसकाईं,
सी सी कर हेमंत कँपे, तरु झरे, खिले वन!
औ जब फिर से गाढ़ी ऊदी लालसा लिये
गहरे कजरारे बादल बरसे धरती पर,
मैंने कौतूहल वश आँगन के कोने की
गीली तह को यों ही उँगली से सहलाकर
बीज सेम के दबा दिए मिट्टी के नीचे!—
भू के अंचल में मणि माणिक बाँध दिए हों!
मैं फिर भूल गया इस छोटी सी घटना को
और बात भी क्या थी याद जिसे रखता मन!
किन्तु, एक दिन जब मैं संध्या को आँगन में

टहल रहा था—तब सहसा मैंने जो देखा
उससे हर्ष विमूढ़ हो उठा मैं विस्मय से!

देखा आँगन के कोने में कई नवागत
छोटे छोटे छाता ताने खड़े हुए हैं!
छाता कहूँ कि विजय-पताकाएँ जीवन की
या हथेलियाँ खोले थे वे नन्हीं प्यारी—
जो भी हो, वे हरे हरे उल्लास से भरे
पंख मार कर उड़ने को उत्सुक लगते थे—
डिम्ब तोड़ कर निकले चिड़ियों के बच्चों-से!
निर्निमेष क्षण भर मैं उनको रहा देखता—
सहसा मुझे स्मरण हो आया—कुछ दिन पहले
बीज सेम के रोपे थे मैंने आँगन में
और उन्हीं से बौने पौधों की यह पलटन
मेरी आँखों के सम्मुख अब खड़ी गर्व से
नन्हें नाटे पैर पटक बढ़ती जाती है!

तब से उनको देखता रहा—धीरे धीरे
अनगिनती पत्तों से लद भर गई झाड़ियाँ,
हरे भरे टँग गए कई मखमली चँदोवे!
बेलें फैल गईं बल खा आँगन में लहरा—
और सहारा लेकर बाड़े की टट्टी का
हरे हरे सौ झरने फूट पड़े ऊपर को—
मैं अवाक् रह गया वंश कैसे बढ़ता है!
छोटे तारों-से छितरे, फूलों के छींटे
झागों से लिपटे लहरी श्यामल लतरों पर
सुन्दर लगते थे मावस के हँसमुख नभ से
चोटी के मोती-से आँचल के बूटों से!

एस सी देसाई

ओह समय पर उनमें कितनी फलियाँ फूटीं!
कितनी सारी फलियाँ कितनी प्यारी फलियाँ—
पतली चौड़ी फलियाँ! उफ़, उनकी क्या गिनती!
लम्बी लम्बी अंगुलियों-सी नन्हीं नन्हीं
तलवारों-सी पन्ने के प्यारे हारों-सी
झूठ न समझें चन्द्र-कलाओं-सी नित बढ़तीं
सच्चे मोती की लड़ियों-सी ढेर ढेर खिल
झुंड झुंड झिलमिल कर कचपचिया तारों-सी!
आः, इतनी फलियाँ टूटीं जाड़ों भर खाईं
सुबह शाम वे घर घर पकीं पड़ोस पास के
जाने अनजाने सब लोगों में बँटवाईं,
बन्धु बान्धवों मित्रों अभ्यागत मँगतों ने
जी भर भर दिन रात मुहल्ले भर ने खाईं—
कितनी सारी फलियाँ कितनी प्यारी फलियाँ!

यह धरती कितना देती है! धरती माता
कितना देती है अपने प्यारे पुत्रों को!
नहीं, समझ पाया था मैं उसके महत्व को—
बचपन में छिः, स्वार्थ लोभ वश पैसे बोकर!
रत्न प्रसविनी है वसुधा अब समझ सका हूँ!

इसमें सच्ची समता के दाने बोने हैं,
इसमें जन की क्षमता के दाने बोने हैं,
इसमें मानव-ममता के दाने बोने हैं
जिससे उगल सके फिर धूल सुनहली फसलें
मानवता की—जीवन श्रम से हँसें दिशाएँ!—
हम जैसा बोएँगे वैसा ही पाएँगे।

(१९५९)

अनुक्रमणिका